॥ श्रीविश्वनाथो जयति ॥

धर्म्मचन्द्रिका ।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित ।

श्रीभारतधर्म्म सिण्डिकेट लिमिटेडके
शास्त्र प्रकाश विभाग
द्वारा प्रकाशित ।

काशी ।

संवत् १९८४ विक्रमी ।

द्वितीयवार २०००] सन् १९२७ ई० [मूल्य १) रुपया ।

॥ श्रीविश्वनाथो जयति ॥

धर्म्मचन्द्रिका ।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित ।

श्रीभारतधर्म्म सिण्डिकेट लिमिटेडके द्वारा
प्रकाशित ।

काशी ।

श्रीगोपालचन्द्र चक्रवर्ती द्वारा
भारतधर्म प्रेसमें मुद्रित ।

संवत् १९८४ विक्रमी ।

द्वितीयवार २०००]   सन् १९२७ ई०   [मूल्य १) रुपया ।

प्रस्तावना।

———:o:———

शिक्षा ही मनुष्यत्वके विकाशका बीज मन्त्र है। शिक्षाविहीन मनुष्य-जीवन मनुष्यपदवाच्य नहीं है। मनुष्योंमें मनुष्यत्वका जो बीज अपरिस्फुटरूपसे विद्यमान रहता है, शिक्षासुधाके सिञ्चन-से वह अङ्कुरित होकर मनुष्यको क्रमशः मानवीय जीवनके उन्नत पदपर प्रतिष्ठित कर देता है। इसीसे महर्षियोंने शिक्षाकी बड़ी महिमा गाई है; क्योंकि शिक्षा ही प्रत्येक जातिकी प्राणस्वरूप है।

जगत्में जितनी जातियां हैं, जातीय लक्ष्यकी विभिन्नताके अनु-सार उनकी मनः प्रवृत्तियां भिन्न भिन्न हैं। इसीसे प्रत्येक जातिकी शिक्षाके आदर्श विभिन्न देख पड़ते हैं। जिनकी प्रवृत्ति वाणिज्यकी ओर है उनका आदर्श वाणिज्यमूलक, जिनकी प्रवृत्ति शिल्पनैपुण्यकी ओर है उनका आदर्श शिल्पमूलक और जिनकी प्रवृत्ति राजनीतिकी ओर है उनका आदर्श राजनैतिक-भाव प्रधान रहेगा, इसमें सन्देह ही क्या है? परन्तु उक्त शिक्षाओंका धर्महीन भौतिक विज्ञानोन्नतिके साथ दृढ़सम्बन्ध होनेके कारण उनके द्वारा आत्माकी उन्नति नहीं हो सकती। आर्यजातिका प्राण 'धर्म' है; इस कारण उनकी प्रवृत्तिकी धारा सच्चिदानन्द महासागरकी ओर प्रवाहित है। अतः जिस शिक्षाके मूलमें 'धर्म' नहीं है, आर्योंके मतसे वह शिक्षा जातिके लिये कल्याणप्रद नहीं हो सकती। आर्यजातिकी व्यावहारिक शिक्षामें भी धर्म्मभाव भरा हुआ है।

कालके प्रभावसे आर्यजातिमेंसे धर्मशिक्षा उठी जा रही है। धर्म-हीन पाश्चात्य शिक्षाके विषमय फलसे आर्यजीवन प्राचीन आर्य आदर्शके द्वारा अनुप्राणित नहीं हो रहा है। स्कूल कालेजोंमें कोमल-मति बालक जो शिक्षा पाते हैं, उसमें धर्मशिक्षाका पूर्ण अभाव

होनेके कारण, वे अपना जीवन आर्यादर्शके अनुसार नहीं बना सकते। वे प्रायः लक्ष्यभ्रष्ट, आचारभ्रष्ट और चरित्रभ्रष्ट होकर अपनेको तथा जातीय जीवनको यथार्थ उन्नतिके प्रशस्त पथसे बहुत दूर ले जा रहे हैं। सदाचारप्रतिपालन, पितृमातृभक्ति, सच्चरित्रता, ज्ञानार्जन-स्पृहा, आस्तिकता, परार्थपरता, आध्यात्मिकता आदि आर्यजाति-सुलभ गुण धर्महीन शिक्षाके प्रभावसे आर्यसन्तानोंके हृदयसे क्रमशः लुप्त हो रहे हैं। ऐसी अवस्थामें आर्यजातिको इस विपत्तिसे बचानेके लिये अतिशीघ्र समस्त विद्यालयोंमें धर्मशिक्षा देनेकी व्यवस्था तथा धर्मशिक्षाके उपयोगी ग्रन्थ प्रस्तुत करना परमावश्यक होगया है।

श्रीभारतधर्म महामण्डलका शास्त्र प्रकाशन कार्य आजकल भारतधर्म सिण्डिकेटके द्वारा किया जा रहा है। इसलिये स्कूल कालेजमें धर्मशिक्षोपयोगी ग्रन्थोंके प्रकाशनका भार भी उसी कम्पनीपर न्यस्त है। तदनुसार मेट्रिक तृतीय श्रेणीसे नवम श्रेणी तक कई एक पाठ्यपुस्तक प्रकाशित करके दशम श्रेणी अथवा आई० ए० श्रेणीके पढ़ने योग्य 'धर्मचन्द्रिका' का यह द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया जाता है। इस उत्तम ग्रन्थसे छात्रगण तथा हिन्दु जनताको धर्मशिक्षा लाभमें कथञ्चित् सहायता मिलेगी तो लेखक अपना श्रम सार्थक समझेगा।

काशीधाम।
रामनवमी,
सं० १९८४ वि०

ग्रन्थकार।

धर्मचान्द्रिका

की

विषय-सूची ।

—:❀❀❀:—

—— :०:——

ओं नमः परमात्मने ।

धर्मचन्द्रिका ।

धर्मविज्ञान ।

(१)

धर्म्मशब्द धृधातुसे बनता है, इसका अर्थ "धरतीति धर्म्मः" अथवा "येनैतद्धार्य्यते स धर्म्मः" अर्थात् जो धारण करता है अथवा जिसके द्वारा सम्पूर्ण संसारका धारण (रक्षा) किया जाता है, वही धर्म्म है । धर्म्मका इस प्रकारका लक्षण वेदमें भी वर्णित है, यथा—

धर्म्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति धर्म्मेण पापमपनुदति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति ।"

(नारायणोपनिषद्)

धर्म्म ही समस्त संसारकी स्थितिका मूल है, संसारमें लोग धर्म्मात्मा पुरुषका अनुसरण करते हैं, धर्म्मसे पाप दूर होता है, धर्म्म ही पर सब अवलम्बित है इसलिये महर्षियोंने धर्म्मको उत्तम पदार्थ कहा है ।

इसी प्रकार भगवान् वेदव्यासने भी धर्म्मका लक्षण कहा है—

धारणाद्धर्म्ममित्याहुर्धर्म्मो धायते प्रजाः ।
यस्माद्धारणसंयुक्तं स धर्म्म इति निश्चयः ॥

धारण करता है इसलिये धर्म्मको धर्म कहा गया है, धर्म्म प्रजाओंको धारण करता है, जो धारण करनेकी योग्यता रखता है वही धर्म्म है ।

ईश्वरकी जो अलौकिक इच्छा-शक्ति सम्पूर्ण संसारका भरण पोषण अथवा उसकी रक्षा करती है, उसीका नाम धर्म्म है। जो शक्ति पृथिवीके भीतर व्यापक रहकर पृथिवीको परिचालन करती है और उसके काठिन्य तथा गुरुत्वकी रक्षा करती हुई पृथिवीमें पृथिवीपन बनाए रखती है, जो शक्ति जलमें रहकर जलका जलत्व और उसकी तरलता सम्पादन करती है, जो शक्ति तेजमें रहकर उसकी उष्णता और तेजस्विताकी रक्षा करती है, जिस शक्तिके न रहनेसे पृथिवी, जल या तेज रूपमें पलट जाती अथवा तेज कठिन और वजनदार (भारी) हो जाता, आज पृथिवी रूपमें है कल वह आकाश रूपमें या आकाश ही पृथिवीके समान स्थूल दिखाई देता, जो शक्ति इस पञ्चभूत एवं मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष और ग्रह नक्षत्र आदि पाञ्चभौतिक पदार्थोंको अपने अपने स्वरूपमें स्थित रक्खे, आपसमें टकराकर नष्ट भ्रष्ट होने न दे, उसी शक्तिको धर्म्म कहते हैं। जिस शक्तिके प्रबल प्रभावसे पृथिवी अपने मेरुदण्डपर घूमती हुई प्रतिदिन नियमसे रात और दिनको बना रही है और प्रतिवर्ष ठीक समयपर नियमके साथ सूर्य्यदेवकी प्रदक्षिणा कर रही है, जिस शक्तिकी महनीय महिमासे महान् महीतलपर प्रतिवर्ष नियमके साथ छः ऋतुओंका विमल विकाश हुआ करता है, जिस शक्तिके सामर्थ्यसे शीतप्रधान प्रदेश या देशमें पशु पक्षी आदि उस देशके योग्य शरीरका उपादान लेकर उत्पन्न होते हैं और मरुभूमिके समान उष्ण देशोंमें उसके योग्य शरीरोंको धारण करके जन्म लेते हैं, वही धर्म्म है। जिस शक्तिके अतुल बलसे शरीरमें वात पित्त और कफ या पञ्चभूतोंकी समानताकी रक्षासे शरीरकी रक्षा होती है, क्षणभरके लिये भी जिश शक्तिके न रहनेसे शरीर पञ्चत्वको प्राप्त हो जाता है अथवा तेजसे जल सूख कर या जलके द्वारा तेज नष्ट होकर शरीरमें बड़ा गड़बड़ मचा देता है, जो शक्ति काठके काठपनकी रक्षा करे, काठके उपादानभूत परमाणुओंमें आकर्षण और विकर्षणकी समानता बनी रक्खे, जिस समानताके

बलसे काठके परमाणुसमूह आकर्षण अधिक होनेके कारण आपसमें बहुत खिच खिच कर काठको कुछ औरसे और न बना दें अथवा विकर्षणके आधिक्यसे वे परमाणुसमूह परस्पर बिखरते हुए उसका आकार बहुत बड़ा न बना दें या तेज अथवा वायुके साथ मिलाकर उड़ा न दें; किन्तु जो शक्ति दोनोंकी समानता रखकर संसारके सब पदार्थोंको अपने ठीक आकारमें रखती है उसीका नाम धर्म्म है।

साधारण रीतिपर सृष्टिके सब पदार्थोंको दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। एक जड़ दूसरा चेतन। जो असाधारण धारिका-शक्ति अनादिकालसे इन दोनोंको अपनी अपनी अवस्थाओंमें स्थित रखती है, वही धर्म्म है।

इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी प्रत्येक वस्तुमें एवं प्रत्येक अणु परमाणुके भीतर आकर्षण और विकर्षण नामकी दो शक्तियां हैं। इन दोनोंकी समानताके कारण ही इस असीम शून्य महाकाशमें वर्त्तमान अनन्त ब्रह्माण्डोंमें अनन्त सूर्य्य चन्द्र ग्रह नक्षत्र अपनी अपनी कक्षामें घूमते हुए कभी कोई अपनी कक्षासे गिरकर दूसरे ग्रहादिके साथ टक्कर नहीं खाता है, जलमय चन्द्रलोक तेजोमय सूर्य्यलोकमें प्रवेश करके नष्ट नहीं होता है अथवा बड़ा ग्रह छोटे ग्रहको अपने भीतर खींचकर नष्ट नहीं करता है, जो ईश्वरकी शक्ति इस प्रकारसे आकर्षण और विकर्षण दोनोंकी समानता रखकर सृष्टिके सब पदार्थोंकी रक्षा करती है, वही धर्म्म है।

बुद्धिमान् व्यक्ति प्रकृतिके विशाल राज्यमें इस प्रकारसे धर्म्मकी अपूर्व लीलाको देखकर चकित हो जाता है। प्रकृतिके इस विराट् गर्भमें कितने करोड़ों ब्रह्माण्ड विद्यमान हैं उनकी संख्या नहीं हो सक्ती है। महानारायणोपनिषद्में लिखा है कि:—

अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्ततः स्थितान्येतादृशान्यनन्तकोटिब्रह्माण्डानि ज्वलन्ति।

इस ब्रह्माण्डकी चारों ओर इसके समान अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड हैं। एक एक सौरजगत् एक एक ब्रह्माण्ड है। सौरजगत्में सूर्य्य ही एक केन्द्र और प्रकाशमान हैं। सब ग्रह सूर्य्यकी ही प्रदक्षिणा करते हैं। बुध ग्रह सूर्य्यके अत्यन्त समीप रहकर उनके चारों ओर घूमता है, शुक्र, पृथिवी, मंगल, बृहस्पति, शनैश्चर, इयरेन्स, नेपचून आदि ग्रह कुछ दूर दूर पर रहकर सूर्य्यकी परिक्रमा करते हैं। उपग्रह, ग्रहकी चारों ओर प्रदक्षिणा करते हैं। चन्द्रमा पृथिवीका उपग्रह है। वह प्रायः २८ दिनमें पृथिवीकी एकवार परिक्रमा करता है। बुध या शुक्रका चन्द्रमा अभीतक नहीं देखा गया है। पृथिवीके समीपवर्त्ती चन्द्रमाके समान मंगल ग्रहके भी दो चन्द्र हैं। वे दोनों मंगलकी प्रदक्षिणा करते हैं। बृहस्पतिके समीपी चार, शनिके आठ, इयरेन्सके चार और नेपचूनके समीपी एक चन्द्र है। सौर जगत्में इन्हींकी प्रधानता है। मंगलकी कक्षासे बृहस्पतिकी कक्षा प्रायः ३३८००००००० तैंतीस करोड़ अस्सी लाख माईल दूरी पर है। सौर जगत्के इस विभागमें २४० छोटे छोटे ग्रहोंकी क्रीड़ाभूमि है। ये ग्रह आकारमें छोटे होने पर भी प्रत्येक ग्रह हैं और प्रत्येक स्वतन्त्र रूपसे सूर्य्यकी प्रदक्षिणा करते हैं। इस प्रकार हमारे सौरजगत्में सब समेत ३०० तीन सौ ग्रह उपग्रह हैं। उपग्रह ग्रहोंकी और उपग्रहोंके साथ ग्रहगण सूर्य्यकी परिक्रमा करते हैं। यही एक सौरजगत् या एक ब्रह्माण्ड हुआ। सौरजगत्के ग्रहोंमें बृहस्पति और शनैश्चर बहुत ही बड़े और विस्तृत हैं। पृथिवीके विस्तारकी अपेक्षा बृहस्पति तेरह सौ गुना और शनैश्चर सात सौ एक्कीस गुना बड़ा है। सौरजगत्के सब ग्रह उपग्रहोंके सम्मिलित विस्तारकी अपेक्षा सूर्य्यका विस्तार छः सौ गुना अधिक है। ग्रह और उपग्रहोंकी गमनशीलतापर विचार करके सूर्य्यकी स्थिरताकी कल्पना की गयी है किंतु सूर्य्यभी स्थिर नहीं हैं। वे भी इन तीन सौ ग्रह उपग्रहके सहित सौर परिवारको साथ लेकर ध्रुवनामक महासूर्य्यके

चारों ओर विजलीकी तरह घूम रहे हैं। इस सौरजगत्‌के समान अनन्त सौरजगत् ध्रुवकी परिक्रमा कर रहे हैं। जब अनादि अनन्त प्रकृतिका चाञ्चल्य ही समस्त ब्रह्माण्डोंकी सृष्टिका कारण है तब सृष्टि और स्थितिकी दशामें प्रकृतिके गर्भमें रहने वाला कोई भी पदार्थ अचल नहीं हो सकता। केवल प्रकृतिराज्यसे अतीत परब्रह्मही निश्चल भावसे विराजमान हैं इसलिये श्रुतिने कहा है:—

"वृक्षइव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक:"

प्रकृतिसे अतीत अद्वितीय परब्रह्म आकाशमें निश्चल वृक्षके समान स्थित हैं। वस्तुतः प्राकृतिक पदार्थकी चञ्चलता स्वाभाविक है। इसलिये ध्रुवनामक महासूर्य्य भी इस सौरजगत्‌के समान और भी अनेकानेक सौरजगत्‌के साथ अन्य किसी महामहासूर्य्यको प्रदक्षिणा करते हैं। इस प्रकारके असंख्य सौरजगत्‌से घिरे हुए वे महामहासूर्य्य भी अपनेसे अत्यन्त महान् किसी सूर्य्यकी परिक्रमामें अनवरत रत हो रहे हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रकृति अनन्त विविध विलास कलाओंसे युक्त मनोहर मूर्त्तिको धारण कर रही है; किन्तु यह संसार कितना ही विराट् और अनन्त क्यों न हो सभी जगह पूर्णरुपसे श्रृङ्खला विद्यमान है। सूर्य्य अथवा और और ग्रह उपग्रहोंके साथ जितनी दूरपर आकर्षण और विकर्षणकी समानता रह सकती है उतनीही दूर पर ठहरकर वे ग्रह उपग्रह अपनी कक्षामें घूमते हैं। यदि इन आकर्षण विकर्षण शक्तियोंमें समानता न रह कर कुछ भी न्यूनाधिक्य (कमी वेशी) हो जाय तो ये ग्रह उपग्रह अपनी कक्षासे गिरकर दूसरे ब्रह्माण्डके ग्रह नक्षत्रोंके साथ टकराते हुए महाप्रलय उपस्थित कर दें। जो शक्ति इन आकर्षण विकर्षण शक्तियोंमें समानता रखकर इस प्रकारके महाध्वंसके ग्राससे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डसमूहको सदा बचाती है, वही धर्म्म है।

पश्चिमी विज्ञानसे यह बात सिद्ध होती है कि प्रत्येक परमाणुमें आकर्षण और विकर्षण शक्ति है। स्थूल जगत्की उत्पत्तिके समय आकर्षण शक्ति बढ़ जाती है जिससे परमाणुसमूह परस्पर मिलकर स्थूल जगत्को उत्पन्न करते हैं और प्रलयके समय विकर्षण शक्ति बढ़ जाती है जिससे वे परमाणु अलग अलग होकर स्थूल जगत्का विनाश करते हैं किन्तु स्थितिकालमें आकर्षण और विकर्षण इन दोनोंकी समानता रहती है। धर्म्मकी धारिका शक्तिसे ही इन दोनोंकी समानता बनी रहती है जिससे स्थितिके समय संसारमें मधुरलीला देखनेमें आती है।

जिस प्रकार जड़ जगत्में धर्म्मकी असीम धारिणी शक्ति देखी गई है उसी प्रकार चेतन जगत्में भी धर्म्मका अटल प्रभाव पाया जाता है। मनुष्य, पशु और वृक्ष आदि सब ही चेतन हैं किन्तु इनमें बड़ा भेद है। जो शक्ति जीवोंमें इस प्रकारके परस्पर भेदोंकी समानताको बनाए रखती है, जिस शक्तिके न रहनेसे क्षणभरमें मनुष्य स्थावरके समान जड़ भावको प्राप्त होजाता और पशु, वृक्ष आदि स्थावर मनुष्यके समान बुद्धिशक्तिको प्राप्त हो जाते, किन्तु जो शक्ति मनुष्यत्व, पशुत्व और वृक्षत्व आदिको सङ्कर होनेसे बचाती है उसी सामञ्जस्य करने वाली शक्तिका नाम धर्म्म है।

संसारमें धर्म्मकी इस धारिका शक्तिका प्रभाव दो रूपोंमें दिखाई देता है, एक, एक पदार्थको दूसरे पदार्थसे पृथक् रखकर उसको ठीक अपनी अवस्थामें रखना और दूसरी, क्रमशः उन्नति कराकर पदार्थको पूर्णताकी ओर ले जाना।

क्रमाभिव्यक्ति (क्रमशः प्रकट होना) के नियमसे जीवभावका विकाश उद्भिज्जसे आरम्भ होता है और क्रमशः स्वेदज, अण्डज एवं जरायुज पशु आदि योनियोंको पारकर मनुष्ययोनिमें पूर्ण हो जाता है। प्रत्येक जीवमें अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्द-मय, ये ही पांच कोष या पांच विभाग हैं, जीवका स्थूल शरीर अन्न-

मय कोष या प्रथम विभाग प्राण, अपान आदि क्रियाओंसे युक्त वायुको चलानेवाली शक्ति ही प्राणमय कोष या द्वितीय विभाग, कर्मेन्द्रिय और मन, मनोमय कोष या तृतीय विभाग, ज्ञानेन्द्रिय और बुद्धि, विज्ञानमय कोष या चतुर्थ विभाग और प्रिय, मोद और प्रमोद, इन तीन वृत्तियोंसे युक्त अन्तःकरणकी अवस्था विशेष, जिसका पूर्ण विकाश सुषुप्ति (घोरनिद्रा) कालमें होता है वही आनन्दमय कोष या पंचम विभाग है। इन पञ्च कोषोंके विकाशके तारतम्यसे ही वृक्ष और मनुष्यमें इतना भेद है। उद्भिजमें केवल अन्नमय कोषके विकाश होनेपर ही ऐसी शक्ति देखनेमें आती है कि केवल शाखा (डांढ) रोपनेसे वृक्ष बन जाता है। यह उद्भिजमें रहनेवाली धर्म्मशक्तिके किञ्चिन्मात्र विकाशका फल है। स्वेदजमें अन्नमय और प्राणमय कोषोंका विकाश है। प्राणमय कोषके विकाश होनेसे ही स्वेदज कीट आदिमें अनेक प्राणक्रियाएं देखनेमें आती हैं। जैसा कि रोगके कीटसे शरीरमें रोग उत्पन्न होकर देशभरमें महामारीका फैल जाना और रुधिरमें शुक्लकीटकी प्रबलतासे रोगका विनाश होनो इत्यादि। अण्डजमें अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोषोंका विकाश है. मनोमय कोषके विकाश होनेसे ही साधारण पक्षियोंमें अपने बच्चोंके साथ स्नेह करना अथवा कबूतर एवं चक्रवाक (चकवा) आदि विशेष पक्षियोंमें दाम्पत्य प्रेम आदि देखनेमें आते हैं जो मनोवृत्तिके स्पष्ट लक्षण हैं। जरायुज पशु आदिमें विज्ञानमय कोषके विकाश होनेसे ही घोड़ा, हाथी कुत्ता आदिमें स्वामीकी भक्ति आदि बुद्धिकी अनेक वृत्तियोंका परिचय मिलता है। मनुष्यमें पांचों कोषोंका विकाश है। आनन्दमय कोषके विकाश होनेसे ही मनुष्य हंसकर अपने मनका आनन्द प्रकट कर सकता है। और और जीवोंमें आनन्दमय कोष रहनेपर भी उनमें उसका विकाश नहीं है इसलिये वे हंस नहीं सकते। जीव कोष-विकाशके अनुसार उद्भिजसे स्वेदज, स्वेदजसे

अण्डज, अण्डजसे जरायुज पशु आदि, और पशु आदिसे मनुष्य योनिमें आता है। वहां भी क्रमशः असभ्यसे अनार्य्य, अनार्य्यसे आर्य्य शूद्र, शूद्रसे वैश्य, वैश्यसे क्षत्रिय, क्षत्रियसे ब्राह्मण, ब्राह्मणमें भी मूर्ख जातिमात्रोपजीवी ब्राह्मण, उससे कर्मी ब्राह्मण, उससे विद्वान् ब्राह्मण, विद्वानसे तत्त्वज्ञ, तत्त्वज्ञसे आत्मज्ञ ब्राह्मण होकर पञ्चकोषोंके विकाशकी पूर्णताको लाभ करता है, उसके बाद आत्मज्ञानको प्राप्त करके जीव मुक्त हो जाता है। जीवकी यह कर्मोद्र्ध्वगति या जीवभावका क्रमविकाश धर्मका ही कार्य्य है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि जिस शक्तिने जीवको जड़से पृथक् कर रक्खा है और जो प्रत्येक विभिन्न जीवको स्वतन्त्रसत्ताकी रक्षा कर रही है एवं जो शक्ति वृक्ष आदि स्थावरसे लेकर जीवको क्रमशः उन्नत करती हुई अन्तमें मोक्ष प्राप्त करा देती है, उसी एकमात्र व्यापक शक्तिका नाम धर्म्म है इसलिये वैशेषिक दर्शनके कर्त्ता महर्षि कणादने कहा है कि—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

जिससे ऐहिक तथा पारलौकिक अभ्युदय और मोक्ष प्राप्त हो, वही धर्म है। इसी प्रकार स्मृतिकारोंने भी कहा है—

उन्नतिं निखिला जीवा धर्मेणैव क्रमादिह।
विदधानाः सावधाना लभन्तेऽन्ते परं पदम्॥

जीव धर्म्मके द्वारा क्रमशः उन्नत और अन्तमें मोक्षको प्राप्त होता है। अज्ञान और बुद्धिके विकाश न होनेके कारण उद्भिज आदि मनुष्यसे नीचेके सब जीव प्राकृतिक नियमके आधीन रहकर क्रमशः उन्नत होते हैं। प्राकृतिक माता उनको बालकके समान अपनी गोदमें लालन पालन करती हुई अन्तमें मनुष्ययोनि तक पहुंचा देती है। इसलिये वृक्ष आदिसे पशु तक जीव माके गोदमें बालकके समान पूरे तौरपर प्रकृतिके अधीन रहकर बढ़ते हैं। वस्तुतः इनके सब कामा-

का भार प्रकृतिपर रहनेसे ये पाप या पुण्यके भागी नहीं होते हैं, किन्तु मानव योनिमें आनेपर अहङ्कार बढ़जानेसे जीव स्वाधीन होकर काम करने लगता है इसलिये वह अपने कामका जिम्मेवार हो जाता है इसलिये मनुष्य योनिसे ही धर्मका साक्षात् सम्बन्ध शास्त्रोंमें वर्णित है, जैसा कि महाभारतमें—

मानुषेषु महाराज ! धर्म्माधर्म्मौ प्रवर्त्ततः ।
न तथाऽन्येषु भूतेषु मनुष्यरहितेष्विह ॥
उपभोगैरपि त्यक्तं नात्मानं सादयेन्नरः ।
चाण्डालत्वेऽपि मानुष्यं सर्वथा तात ! शोभनम् ॥
इयं हि योनिः प्रथमा यां प्राप्य जगतीपते ! ।
आत्मा वै शक्यते त्रातुं कर्म्मभिः शुभलक्षणैः ॥

जिस प्रकारकी मनुष्यमें धर्म्माधर्म्मकी ठीक ठीक प्रवृत्ति होती है, मनुष्यसे भिन्न अन्यजीवोंमें वैसी नहीं होती। अत्यन्त दीन होने पर भी मनुष्यको दुःखोंसे घबड़ाना न चाहिये; क्योंकि चाण्डालकी भी मनुष्ययोनि अन्य पशु आदि योनियोंसे बहुत ही उत्तम है। यही एक योनि है जिसको प्राप्त करके मनुष्य शुभ कर्म्मोंको करता हुआ अन्तमें मुक्तिपदको प्राप्त हो सकता है। इसी बातको सांख्यकारिकाके भाष्यमें श्रीमान् ईश्वरकृष्णने भी कहा है—

धर्म्मेण गमनमूर्द्ध्वम् ।
गमनमधस्ताद्भवत्यधर्म्मेण ॥

जीव धर्मके द्वारा ऊर्द्ध्वगति और अधर्मके द्वारा अधोगतिको प्राप्त होता है। पशु आदि जीव प्रकृतिके नियमानुसार परिचालित होनेसे पाप पुण्यके फलभागी नहीं होते हैं। वे समष्टि प्रकृतिके स्वाभाविक नियमानुसार क्रमशः उन्नत होते हैं इसलिये मनुष्यसे इतर सब जीवोंकी उत्पत्ति और उन्नतिकी एक सीमा है; अर्थात् कितने जन्मोंमें वृक्ष आदि जीव अपने अधिकारकी पूर्णताको प्राप्त होकर

स्वेदज आदि उच्च योनियोंका अधिकार प्राप्त करेंगे; इसका भी नियम है। ऋषिगण उन सब नियमोंपर भलिभांति संयम करके लिख गये हैं कि—

स्थावरे लक्ष विंशत्यो जलजं नवलक्षकम्।
कृमिजं रुद्रलक्षञ्च पक्षिजं दशलक्षकम्॥
पश्वादीनां लक्षत्रिंशच्चतुर्लक्षञ्च वानरे।

वृक्ष आदि उद्भिज्जमें बीस लाख, स्वेदज कृमिमें ग्यारह लाख, अण्डज मछली पक्षी आदिमें उन्नीस लाख एवं पशु वानर आदि जरायुजमें चौंतीस लाख वार जन्म ग्रहण करना पड़ता है। इस प्रकार क्रमोन्नतिके समय जीव चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करके अन्तमें मनुष्ययोनिको प्राप्त होता है; परंतु मनुष्य कितने जन्मोंमें अपने अधिकारको पूर्णताको पाकर मुक्तिपदको प्राप्त होगा इसका कोई नियम नहीं है; क्योंकि जीव मनुष्ययोनिमें आकर स्वाधीन हो जाता है और प्रकृतिपर आधिपत्य जमाकर उसके नियमोंको तोड़ने लगता है अर्थात् यहांपर प्रकृतिकी क्रमोन्नति-शील धारा रुक जाती है। पशु आदि जीव, आहार निद्रा भय और मैथुन विषयमें प्राकृतिक नियमके सर्वथा अधीन होकर चलते हैं। वे कभी भी समयके नियमका उल्लंघन नहीं करते हैं। मनुष्य स्वतंत्र होनेसे उस निमयको तोड़ देता है और इस प्रकारकी स्वाधीनताके कारण ही प्राकृतिक नियमभङ्ग होनेसे प्रकृतिका जो क्रमोन्नतिकारी प्रवाह है, जिसने जीवको उद्भिज्जसे लेकर क्रमशः उन्नति करते हुए मनुष्य योनितक पहुँचा दिया था, वह प्रवाह मनुष्ययोनिमें आकर बाधाको प्राप्त होता हुआ फिर नीचेकी ओर लौटने लगता है। जिस शक्तिके द्वारा प्राकृतिक प्रवाहकी निम्नप्रवणता (नीचेकी ओर लौटनेका उद्योग) बन्द होकर क्रमशः ऊर्द्ध्वगमनशील प्रवाह बे रोक टोक ऊपरकी ओर बहता रहे और जिसका अवलम्बन करके जीव मनुष्ययोनिमें प्राप्त

मुक्तिपदको प्राप्त होसके, वही धर्म है। जीव मनुष्य योनिमें धर्मके आश्रयसे प्रकृतिके अनुकूल चलकर प्रकृतिकी क्रमोन्नति शील धारामें अपनेको अनायास छोड़ देता हुआ धीरे धीरे शूद्रसे वैश्य, वैश्यसे क्षत्रिय, क्षत्रियसे ब्राह्मण, ब्राह्मणमें भी विद्वान् कर्मी तत्त्वज्ञ एवं आत्मज्ञ होकर अन्तमें मोक्षको प्राप्त होता है। यही चेतन जगत्में अभ्युदय और निःश्रेयस देनेवाला प्रतिके अनुकूल धर्मका अनुशासन है। इसी प्रकार भगवानकी अलौकिक इच्छारूपिणी धराधारिका धर्मशक्तिके द्वारा जड़चेतनात्मकसम्बन्धी विशेष धारण क्रियाएं सम्पन्न होती हैं।

धर्माङ्गनिर्णय।

(२)

पहिले प्रबन्ध धर्मके सार्वभौम स्वरूपका वर्णन किया गया है जो प्रत्येक देशकाल पात्रके लिये समान रूपसे कल्याणकारी हो सकता है। अब इस प्रबन्धमें साधारण धर्मके सार्वभौमभाव प्रतिपादक अङ्गोंका वर्णन तथा देशकालपात्रानुसार उसके विशेष विशेष भावोंका वर्णन किया जाता है। पूज्यपाद महर्षियोंने उल्लिखित विचारानुसार धर्मके चार विभाग किये हैं, यथा—

१. साधारण धर्म।
२. विशेष धर्म।
३. असाधारण धर्म्म।
४. आपद् धर्म्म।

साधारण धर्म्मके विषयमें आगे कहा जायगा। विशेष धर्म्म उसको कहते हैं कि जो धर्म्मके विशेष विशेष अधिकारानुसार विशेष विशेष रूपसे विहित हो। साधारण धर्मकी अपेक्षा विशेष धर्म्मकी महिमा अपार है क्योंकि जीव विशेष धर्म्मके साधन द्वारा ही अपने अपने

अधिकारकी भूमिपर खड़ा रहकर उन्नति कर सकता है। जिस प्रकार पृथिवीपर चलनेवाले मनुष्य यदि जलमें तैरनेके समान पुरुषार्थ करें तो वे विफल मनोरथ ही नहीं होंगे किन्तु उनका सब शरीर अवसादग्रस्त होगा और छिल जायगा; उसी प्रकार यदि जलके ऊपर मनुष्य तैरनेका पुरुषार्थ न करके चलने लगे तो डूब जायगा, ठीक इसी उदाहरणके अनुसार अपनी अपनी अधिकार-विशेषतासे विशेष धर्म्मका साधन समझना उचित है। यदि स्त्री; पुरुष धर्मको पालन करना चाहे तो वह विफल मनोरथही नहीं होगी बल्कि पतित हो जायगी; उसी प्रकार पुरुष यदि पुरुष धर्मको छोड़कर स्त्री धर्मके पालन करनेमें यत्न करे तो विफलता ही नहीं होगी किन्तु संसारमें उन्माद ग्रस्त कहावेगा। यदि संन्यासी अपने निवृत्तिधर्मको छोड़कर गृहस्थके प्रवृत्ति धर्मको पालन करनेके लिये यत्न करता हुआ कामिनीकाञ्चनका संग्रह करेगा तो अवश्य ही पाप ग्रस्त होकर अधोगतिको प्राप्त करेगा। उसी प्रकार यदि कोई गृहस्थ अपने गार्हस्थ्यधर्मको छोड़कर यति धर्मको पालन करने लगे तो वह विफल मनोरथ ही नहीं होगा बल्कि कर्त्तव्यच्युत होनेके कारण पापग्रस्त होगा। निष्कर्ष यह है कि जिसको पूर्व कर्म और वर्त्तमान प्रकृति, प्रवृत्ति तथा अधिकारके अनुसार जैसे कर्म करनेका अवसर प्राप्त हुआ है उसीके अनुसार वह जीव विशेष धर्मका आश्रय लेता हुआ अभ्युदय प्राप्त करे तभी ठीक है। नारीको नारी धर्म पालन करते हुए, पुरुषको पुरुषका धर्मपालन करते हुए, सन्न्यासीको संन्यासधर्म पालन करते हुए और गृहस्थको गृहस्थधर्म पालन करते हुए अग्रसर होनेसे ही उनकी धर्मोन्नति और साथही साथ आत्मोन्नतिके पथमें बाधा नहीं होगी। यही विशेष धर्मका स्वरूप है।

विशेष विशेष अधिकारीके उपयोगी पृथक् पृथक् देश काल पात्रके उन्नतिवर्धक जो नियम है वे विशेष धर्म कहाते हैं और जब विशेष धर्मका अधिकारी अपनी विशेष धर्मकी मर्यादाको छोड़कर प्रबल

पुरुषार्थके द्वारा कोई असाधारण फलकी सिद्धि करे तो उस दशामें जो धर्म साधन होता है उसको असाधारण धर्म कहते हैं। उदाहरण रूपसे नारी जातीका धर्म विचारने योग्य है। सतीधर्मका पालन नारी-जातीके विशेष धर्मका उदाहरण है। इस पवित्र धर्मके पालन करनेवाली सीता, सावित्री आदि प्रातःस्मरणीया स्त्रियोंका नाम पुराणोंमें मिलता है। असाधारण धर्मके उदाहरणमें द्रौपदीका उदाहरण ग्रहण करने योग्य है। द्रौपदी घटनाचक्रसे नारी जातिके पूर्वकथित विशेष धर्मके पालन करनेमें असमर्थ हुई थी; परन्तु योगियोंके लिये भी दुर्लभ प्रबल धारणके साधन द्वारा वह पांच पतिकी सेवा करके भी शरीर और मनसे पातिव्रत्य धर्मका पालन कर सकी थी और प्रबल पुरुषार्थ द्वारा एक पतिकी सेवा करते समय दूसरे पतिके पतिसम्बन्धका आभासतक अन्तःकरणमें आने न देनेसे प्रातःस्मरणीया बन रही है। आपद्धर्म विशेष धर्म और असाधारण धर्म इन तीनोंका विज्ञान अतिजटिल है इस कारण किसी एक ही चरित्रमें तीनोंका धर्म दिखानेके लिये पुनः यत्न किया जाता है। महर्षि विश्वामित्रका चरित्र स्मरण करने योग्य है। विश्वामित्रजीका राजधर्म विशेष धर्म है। आपत्कालमें विश्वामित्रका कुक्कुरमांस तक ग्रहण करके शरीररक्षा करना आपद्धर्म है और प्रबल तपस्या द्वारा एक ही जीवनमें असाधारण योगशक्तिके द्वारा क्षत्रियसे ब्राह्मण होजाना असाधारण धर्मकी पराकाष्ठाका उदाहरण है। धर्मका तत्त्व अति दुर्ज्ञेय है, इसी कारण श्रीमहाभारतमें कहा गया है कि "धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्।" साधारण मनुष्य इन सूक्ष्म भेदोंको समझ नहीं सकता है इसी कारण स्मृत्यादि धर्मशास्त्र द्वारा विस्तार रूपसे धर्म और अधर्मका निर्णय किया गया है।

आपद्धर्म्म भी विशेष धर्मके विराट् शरीरका एक प्रधान विभाग है। देश काल पात्र और भावके विचारानुसार आपद्धर्म्मका निर्णय हुआ करता है। आपत्तिमूलक सिद्धान्त इस धर्म्मनिर्णयके

विज्ञानमें सम्मिलित हैं इस कारण इसको आपद्धर्म्म कहते हैं। तात्पर्य्य यह है कि आपत्तिकी असुविधाओंको सम्मुख रखकर वर्त्तमान देश, वर्त्तमान काल और वर्त्तमान पात्रके विचारानुसार सद्भावके अवलम्बनसे जो धर्म्म निर्णय होता है उसीको आपद्धर्म कहते हैं। भावकी ऐसी महिमा है कि शुद्ध भावको हृदयमें रखकर आपत्कालमें अनुष्ठित पापकार्य भी पुण्यरूपमें परिणत हो जाता है। यह बात शास्त्रमें प्रसिद्ध है कि, महर्षि विश्वामित्रने दुर्भिक्ष पीड़ित होकर श्वानमांस भक्षणका भी उद्योग किया था, किन्तु भाव शुद्धि रहनेसे आपत्कालमें अनुष्ठित इस कर्म्मके द्वारा पापग्रस्त नहीं हुए थे। जो व्यक्ति मृत्युको ही उचित समझता है उसके लिये ऊपर उक्त दशामें यद्यपि मरजाना ही अच्छा है और स्वधर्म छोड़ना उचित नहीं है परन्तु जो ज्ञानी व्यक्ति ऐसा समझता हो कि मेरे लिये मरना ठीक नहीं है, मेरा यदि शरीर रहेगा तो मैं अन्यान्य पुण्य-कर्मसे इस पापकर्मको शुद्ध कर लूँगा और क्रमशः आध्यात्मिक उन्नति-करके धर्मजगत्में बढ़ सकूँगा उसके लिये आपत्कालमें चाहे जिस प्रकारसे हो शरीरको बचा लेनाही धर्म होगा। विश्वामित्रजीने इसी वैज्ञानिक सिद्धान्तको लक्ष्यमें रखकर ही श्वानमांस भक्षणका निःसं-कोच उद्योग किया था और इसीलिये पापाचरण करते हुए भी भावशुद्धिके कारण पाप भागी नहीं हुए थे। यही आपत्कालमें अनुष्ठेय आपद्धर्मका तत्त्व है। इसी प्रकार छान्दोपनिषद्में एक कथा मिलती है कि किसी समय प्रवल दुर्भिक्षके प्रकोपसे समस्त देशमें अन्न और जलका अभाव हो गया, उस समय अत्यन्त क्षुधार्त होकर एक ऋषि अपनी सहधर्मिणीके साथ जीवन धारणार्थ उस देशसे निकल चले। रास्तेमें एक पहाड़के पास देखा कि एक सुनि-र्मल प्रस्रवणकी धारा बह रही है और उसके पास बैठकर एक चाण्डाल उबाला हुआ चना भक्षण कर रहा है। कई दिनोंसे उपवासी ऋषिने प्राण धारणके लिये और कोई उपाय न देखकर उस चाण्डालसे

ही उसके उच्छिष्ट चनेकी भिक्षा मांगी और उसका आधा स्वयं खाकर आधा पत्नीको देदिया। उच्छिष्ट चना खानेके बाद जब चाण्डालने उच्छिष्ट जल देना चाहा तो ऋषिने उसे ग्रहण करना अस्वीकार किया और कहा—"मैं तुम्हारा उच्छिष्ट जल नहीं पिऊंगा" चाण्डालने कुछ हंसकर कहा – "आपने उच्छिष्ट चना तो खा लिया, उससे आप पतित नहीं हुए और उच्छिष्ट जल पीनेसे ही पतित हो जायंगे।" इस बातको सुनकर ऋषिने उत्तर दिया–"मैं अनाहारसे मर रहा था इसलिये आपत्कालमें प्राणरक्षार्थ तुम्हारा उच्छिष्ट भी चना खाया है परन्तु जलतो सामने ही झरनेसे आरहा है इसलिये जलका क्लेश नहीं है। इस कारण उच्छिष्ट जल पीनेका प्रयोजन नहीं है।" इस प्रकारसे उस दिनके लिये प्राणधारणका उपाय हो जानेपर फिर आगे भिक्षाके लिये पतिपत्नी चले; परन्तु दूसरे दिन कहीं कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ। उस समय अनाहारी पतिको मृत्यु मुखमें पतितप्राय देखकर ऋषिपत्नीने अपने कपड़ेमें बंधे हुए पहले दिनके चने निकालकर पतिको दे दिये। ऋषिने चकित होकर कहा—"क्या तुमने कलका चना नहीं खाया था" इसपर ऋषिपत्निने उत्तर दिया—"आपने तो कहा था कि अनाहारसे मृतप्राय होनेपर ही आपने चाण्डालका उच्छिष्ट चना खा लिया था, मैं कल अन्नाहारसे मृतप्राय नहीं थी और भी कई एक दिन बच सकती थी इसलिये उस उच्छिष्ट चनेको नहीं खाया था। मैं और एक दिन बिना खाये बच सकती हूँ परन्तु आपका प्राण जा रहा है इसलिये आप इस उच्छिष्ट चनेको खाइये।" इस कथाके द्वारा आपत्कालमें कर्त्तव्याकर्त्तव्यनिर्णयका दृष्टान्त अच्छी तरहसे सिद्ध हो जाता है और स्वधर्मसे नीचेका धर्म तथा शौचाचारसे विरोधी व्यवहार भी आपत्कालमें विहित आचाररूपसे परिगणित हो सकता है और इस विज्ञानकी सम्यक् सिद्धि होजाती है। यही आपद्धर्मका रहस्य है।

धर्मके तीन विभागोंका वर्णन करके अब चतुर्थ विभाग अर्थात् साधारण धर्मका वर्णन किया जाता है। साधारण धर्म सर्व हितकर है क्योंकि इसके ७२ अङ्ग तथा अनन्त उपाङ्गोंमेंसे किसी न किसीकी सहायतासे प्रकृतिभेदानुसार सभी मनुष्य चल सकते हैं। अब नीचे इसके ७२ अङ्गोंका वर्णन किया जाता है।

साधारण धर्मके प्रधान अङ्ग तीन हैं, यथा दान, तप और यज्ञ।

"यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।"

ऐसा गीतामें भी कहा है। इन तीनों अङ्गोंमेंसे दानधर्म सब प्रकारके अधिकारियोंके लिये सबसे प्रथम और कलियुगमें परम सहायक है। अपनी वस्तुको अपना सम्बन्ध हटाकर दूसरेको दे देनेका नाम दान है। स्मरण रहे कि दे देना तो सहज है परन्तु दी हुई वस्तुसे अपना सम्बन्ध चित्तसे हटाना अत्यन्त ही कठिन है इस कारण जो दाता अपनी दान की हुई वस्तुसे जितना चित्तको हटाता हुआ सम्बन्धको छोडता है उतनी ही उसके दानकी गणना उत्तम श्रेणीमें होती है। दानधर्म तीन प्रकारका माना गया है, यथा-अभयदान, ब्रह्मदान और अर्थदान। भवभय दूर करनेके लिये श्रीगुरुदेव शिष्यको दीक्षादि जो कुछ दान करते हैं उसको अभयदान कहा जाता है। विद्योन्नतिके अभिप्रायसे साक्षात् तथा परोक्षरूपसे जो कुछ दान किया जाता है उसको ब्रह्मदान कहते हैं। विद्यालय स्थापन करना, विद्योन्नतिकारी यन्त्रालय स्थापन करना, पुस्तक प्रकाश करना, पुस्तक प्रणयन करना, पुस्तक दान करना, शास्त्रपढ़ाना आदि सभी प्रकारके कार्य ब्रह्मदानके अन्तर्गत हैं। धन, ऐश्वर्य आदिके सम्बन्धका जो दान किया जाता है उसको अर्थ दान कहते हैं। ये सब प्रकारके दान ही त्रिगुण विचारसे तीन प्रकारके होते हैं, यथा—गीतामें—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥

देना अपना कर्त्तव्य और धर्म है इस विचारसे जो दान किया जाय और ऐसे व्यक्तिको दान किया जाय जिससे किसी प्रकारके प्रत्युपकार पानेकी कोई भी सम्भावना न हो और कैसे देशमें दान करनेसे दानका अधिक फल होगा, कैसे समयसे दान करनेसे दान-का अधिक फल होगा और कैसे व्यक्तिको दान करनेसे दानका अधिक फल होगा इन सब बातोंको विचार करके सावधानतापूर्वक जो दान किया जाता है उसे सात्त्विक दान कहते हैं और बदलेमें प्रत्युपकारकी आशासे, फलके उद्देश्यसे और देते समय चित्तमें क्लेश पाकर जो दान किया जाता है उसको राजसिक दान कहते हैं और सात्त्विक दानमें जिस प्रकारके देश काल और पात्रका विचार रक्खा गया है उस प्रकारके देश, काल और पात्रका विचार न रखकर जो दान किया जाय और दान लेनेवालेको जिस प्रकार सम्मान करना उचित है वैसा सम्मान न करके तथा अवज्ञाके साथ जो दान किया जाय उसको तामसिक दान कहते हैं। इस प्रकारसे दानके नौ भेद हुए।

अपने शारीरिक और मानसिक सुखोंका त्याग करके शरीर और मनके द्वन्द्वरहित करनेको तप कहते हैं। जिस प्रकार पशुको बांध रखनेसे उसका वेग और उसके काम करनेकी शक्ति अधिक बढ़ जाया करती है उसी प्रकार मन इन्द्रिय और शरीरको सुख भोगसे हटाकर तपमें लगानेसे उनकी शक्ति असाधारण रूपसे बढ़ जाया करती है इसी कारण शास्त्रोंमें वर्णन है कि तपशक्ति द्वारा प्राचीन कालमें ऋषि मुनिगण नाना दैव कार्य्योंके करनेमें समर्थ हुआ करते

थे। अब भी महात्माओंमें तपकी अलौकिक शक्ति देखनेमें आया करती है। जिन जिन अङ्गोंकी तपशक्ति बढ़ाई जाती है, साधक गणको उसी अङ्ग तथा भावकी शक्ति अधिक प्राप्त हुआ करती है, यथा-वाचनिकतपके द्वारा और प्रकारका फल मिलनेपर भी वाक्-सिद्धिकी प्राप्ति तो अवश्य हुआ करती है। साधनके विचारसे तप तीन प्रकारका कहा जाता है, यथा-शारीरिक तप, वाचनिकतप और मानसिक तप। श्रीगीतामें तीनोंके लक्षण निम्नलिखित रूपसे बताये गये हैं, यथा—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शरीरं तप उच्यते॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥

देवता, ब्राह्मण, गुरु और तत्त्वज्ञानी महात्माकी पूजा करना, शौच, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा यह शारीरिक तप कहाता है। अनुद्वेगकारी, सत्य, प्रिय और हितकारी वाक्य बोलना, वेद और [illegible] पाठ करना यह वाचनिक तप कहाता है और मन-की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, मनोनिग्रह और विशेष भावोंका संशो-धन यह मानसिक तप कहाता है। प्रत्येक तप ही त्रिगुणानुसार तीन प्रकारका होता है अतः तपके नौ अङ्ग हुए।

धर्मके तीसरे अङ्गरूप यज्ञके मुख्य तीन भेद हैं, यथा—कर्मयज्ञ, उ[illegible] और ज्ञानयज्ञ। इनमेंसे कर्मयज्ञके छः भेद, उपा-सनायज्ञके नौ भेद और ज्ञानयज्ञके तीन भेद होते हैं। कर्मयज्ञके छः भेद, यथा—

नित्यकर्म, नैमित्तिक कर्म, काम्य कर्म, अध्यात्म कर्म, अधिदैव

कर्म और अधिभूत कर्म। जिन कर्मोंके न करनेसे पाप होता हो और करनेसे विशेष फल न मिलता हो उनको नित्य कर्म कहते हैं, यथा-त्रिकाल सन्ध्या, पञ्चमहायज्ञादि। इसका उद्देश्य यह है कि प्राक्तन कर्मानुसार मनुष्य प्रकृतिकी जिस कक्षापर प्रतिष्ठित है उसीमें स्थिर रहनेके लिये वे सब कर्म किये जाते हैं इसलिये इनके करनेसे पुण्य नहीं हैं किन्तु न करनेसे पाप है क्योंकि न करनेसे मनुष्य उस अधिकारपर प्रतिष्ठित नहीं रह सकता है। इस विज्ञानके अनुसार अपने अपने वर्ण और आश्रम या अपने अपने जीवनमें जो कर्त्तव्य कर्म हैं वे सभी नित्य कर्मके अन्तर्गत होंगे। ब्राह्मणोंकी ब्राह्मणवृत्ति, क्षत्रियोंकी क्षात्रवृत्ति, वैश्योंकी वैश्यवृत्ति और शूद्रोंकी शूद्रवृत्ति इत्यादि सभी नित्यकर्म हैं।

जिन कर्मोंके करनेसे फलकी प्राप्ति होती है और न करनेसे पाप नहीं होता है उनको नैमित्तिक कर्म कहते हैं, यथा-तीर्थ दर्शनादि। तीर्थोंमें दैवी शक्तिकी स्थिति तथा महात्माओंका स्थान होनेसे तीर्थसेवा द्वारा पुण्य होता है; किंतु सेवा न करनेसे पाप नहीं होता है। इसी तरहसे गृहस्थोंके लिये साधुका दर्शन, देवस्थान दर्शन, धर्माचार्योंका सत्सङ्ग करके सत् शिक्षा लाभ आदि कर्म भी नैमित्तिक कर्मके अन्तर्गत हैं जिनके न करनेसे पाप तो नहीं होता है परंतु करनेसे विशेष पुण्य लाभ होता है।

जो कर्म किसी विशेष कामनाको पूरी करनेके लिये किये जाते हैं वे काम्य कर्म कहाते हैं, यथा-पुत्रेष्टियाग, अश्वमेधयाग आदि। काम्यकर्मके मूलमें स्वार्थ रहता है और यह भी बात विचार करने योग्य है कि एक ही कार्य भावके भेद होनेसे कहीं नैमित्तिक कर्म भी कहलाता है और कहीं काम्यकर्म भी कहलाता है। दृष्टान्त रूपसे समझ सकते हैं कि यदि कोई मनुष्य केवल तीर्थ दर्शनके ही लक्ष्यसे तीर्थयात्रा करे तो उसकी तीर्थयात्रा नैमित्तिक कर्मके अन्तर्गत होगी; परन्तु यदि वह मनुष्य इस प्रकार यात्रा न करके

किसी विशेष कामनाकी सिद्धिके लिये तीर्थयात्रा करे तो वह यात्रा काम्य कर्म हो जायगी। तात्पर्य यह है कि नैमित्तिक कर्मके मूलमें केवल चित्तका साधारण धर्मभाव रहता है, परंतु काम्य कर्मके मूलमें विशेष कामना रह सकती है।

श्रीभगवान् कृष्णचंद्रने गीतामें कर्मकी गतिको गहना कहकर कर्मरहस्यका अच्छी तरहसे वर्णन किया है। केवल भावमात्रके प्रभेद होनेसे ही कर्मकी शक्तिमें तारतम्य बहुत कुछ हो जाया करता है इसलिये कर्मोंका सूक्ष्म विचार करते हुए महर्षियोंने कामनाके तारतम्यानुसार कर्मोंकी शक्तिके तारतम्य होनेसे उनको आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिकरूपसे तीन भागोंमें विभक्त किया है। मनुष्योंकी कामना आत्माकी उन्नतिके साथ साथ बहुत कुछ उदारताको प्राप्त हो जाती है और तदनुसार कर्मके भी भावमें परिवर्तन हो जाता है।

साधारणतः अधिभूत कर्म उसे कहते हैं कि जिसमें दूसरे भूतोंके द्वारा कामनाकी सिद्धि और फलकी प्राप्ति हो, यथा-ब्राह्मणभोजनादि कर्म। ब्राह्मणभोजनमें सद्ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे उनके आशीर्वाद तथा मानसिक शक्ति आदिके द्वारा बहुत कुछ फलकी प्राप्ति हो सकती है इसलिये ब्राह्मणभोजन साधुभोजन आदि कर्म अधिभूत कर्मके अन्तर्गत हैं। इस कामनाको बढ़ाकर जब मनुष्य संसारकी सुखकामनाके साथ अपनी सुखकामनाको मिलाता है तब लोकोपकारक सकल स्थूल कर्मही आधिभौतिक कर्ममें परिगणित होते हैं। दरिद्रोंको भोजन देना, अनाथालय स्थापन करना, दातव्य चिकित्सालय आदिके द्वारा जीवोंका कल्याण करना आदि देशहितकर सभी कार्य इस विज्ञानके अनुसार आधिभौतिक कर्म है।

आधिदैविक कर्म उसे कहते हैं कि जिस कर्मके द्वारा दैवी शक्तिको अनुकूल करके फल प्राप्त किया जाता है। यह बात शास्त्रसिद्ध है कि कर्म नष्ट न होनेपर भी प्रबल कर्मके द्वारा दुर्बल कर्म दब जाते

हैं इसलिये यदि कोई मनुष्य दैवी शक्तिको प्रसन्न करके उससे उत्पन्न प्रबल संस्कारके द्वारा अपने विपरीत संस्कारको हटा देवे तो वह कर्म आधिदैविक कहावेगा। प्राक्तन दुष्ट कर्मोंके फलसे जब जीव दुःख पाता है तो याग यज्ञादि आधिदैविक कर्मोंके द्वारा पुण्यमय संस्कारका उदय करनेपर जीवका वह दुःख दूर हो सकता है। इसी व्यक्तिगत कामनाको उदार करता हुआ मनुष्य समस्त देशके लिये भी आधिदैविक कर्मोंका अनुष्ठान कर सकता है, यथा-ग्राम नगर अथवा देशके लिये यज्ञानुष्ठान ग्रामदेवता आदिकी प्रतिष्ठा ये सभी आधिदैविक कर्म हैं, देशमें महामारी, दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदिको दूर करनेके लिये भी इस प्रकारसे दैवयज्ञादिरूप आधिदैविक कर्मोंके अनुष्ठान हो सकते हैं।

आध्यात्मिक कर्ममें बुद्धिका प्राधान्य रहता है इसी विचारसे स्वधर्म और स्वदेशोपकारक कर्म तथा ज्ञानविस्तारकारी कर्मोंको आध्यात्मिक कर्म कह सकते हैं। जीवप्रकृतिपर संयम करनेसे निश्चय होता है कि जीव अपने व्यक्तिगत अहंकारको जितना ही घटाता है उतना ही विश्वजीवनके साथ उसके जीवनकी एकता होती जाती है। उस समय उसकी रुचि क्षुद्र विषय या इन्द्रियोंकी ओर नहीं रहती है परन्तु संसारके सुखके लिये कष्ट होनेपर भी वह उसे परम सुख समझकर आनन्दसे सहन करता है। उस समय उसकी सत्ता बहुत उदार हो जानेसे स्वार्थबुद्धि नष्ट होकर उसमें परार्थ बुद्धिका विकाश होता है और इस दशामें उससे देश और धर्मके लिये जो कुछ कार्य होता है सो सभी आध्यात्मिक कर्म कहाते हैं। इस प्रकारसे देश और जातिके साथ अपने जीवनकी एकता करते करते अन्तमें समस्त संसारको भगवान्का रूप समझकर वे महात्मा "वसुधैव कुटुम्बकं" भावको प्राप्त होते हैं, यही जीवन ऋषियोंका था इसलिये उनकी विभूति परोपकारके लिये ही हुआ करती थी, उनकी चिन्ता परोपकारमें ही लगी रहती थी, उनकी ज्ञानशक्ति समस्त संसारके अज्ञानान्ध-

कारको नष्ट करती थी। उन्हींकी कृपा है कि आज भारत निर्धन होनेपर भी ज्ञानधनमें धनी तथा जगत्पूज्य है। इस प्रकारसे देश जाति और संसारके कल्याण साधनके लिये तथा ज्ञानज्योतिके विस्तारके लिये ऋषिगण जो कुछ ज्ञानविस्तार, पुस्तक निर्माण, उपदेशदान आदि समष्टि जीवकल्याणकारी कर्मको करते थे वे सभी आध्यात्मिक कर्म हैं। इस प्रकारसे कर्म यज्ञके छः अङ्ग हैं और प्रत्येक अङ्ग ही त्रिगुणानुसार त्रिविध होनेसे कर्म यज्ञके अठारह अङ्ग हुए।

परमात्माके सान्निध्यलाभके लिये शास्त्रोंमें जो जो उपाय बताये गये हैं उनका नाम उपासना है। उपासनायज्ञके अनेक भेद हैं और यह अङ्ग बहुत विस्तृत है। इसके मुख्यतः नौ भेद हैं, यथा—उपासना पद्धतिके अनुसार पांच भेद—निर्गुण ब्रह्मोपासना, सगुण पञ्चदेवोपासना, अवतारोपासना, ऋषिदेवता पितर-उपासना और भूत प्रेतोपासना। साधन पद्धतिके अनुसार उपासनाके ४ भेद हैं, यथा—मन्त्रयोगविधि जिसमें स्थूल मूर्त्तिका ध्यान है, हठयोगविधि जिसमें ज्योतिका ध्यान है, लययोगविधि जिसमें सूक्ष्म बिन्दुका ध्यान है और राजयोग विधि जिसमें निर्गुण निराकार ब्रह्मका ध्यान है। उपासनायज्ञके इन नौ अङ्गोंके सत्त्व रज और तमोगुणके अनुसार तीन तीन भेद हैं। इस प्रकारसे उपासनायज्ञके सत्ताईस भेद हुए। इन सबोंके विस्तारित वर्णन ग्रंथान्तरमें किये जायंगे।

यज्ञके तृतीय अङ्गरूप ज्ञानयज्ञके भी तीन अङ्ग होते हैं, यथा-श्रवण, मनन और निदिध्यासन। श्रीगुरुमुखसे तत्त्वज्ञानप्रद वाक्योंके सुननेका नाम श्रवण है। सुने हुए विषयोंपर चिन्तन तथा विचार करनेका नाम मनन है और मनन किये हुए पदार्थकी उपलब्धिका नाम निदिध्यासन है। इन तीनों अङ्गोंके ठीक ठीक अनुष्ठानके द्वारा मुमुक्षुको स्वरूपकी प्राप्ति होती है। ज्ञानयज्ञके इन तीनों अङ्गोंके सत्त्व रज और तमोगुणके अनुसार तीन तीन भेद होते हैं। इस प्रकारसे ज्ञानयज्ञके नौ भेद हुए। इनके विस्तारित वर्णन प्रकरणान्तरमें किये जायंगे।

ऊपर लिखित धर्माङ्गोंमेंसे कोई भी धर्माङ्ग जब व्यष्टि जीवकी आत्मोन्नतिके अर्थ किया जाता है तब वह यज्ञ कहाता है और जब समष्टि जीवोंके कल्याणार्थ किया जाता है तब महायज्ञ कहाता है। जैसे अपने कल्याणकी बुद्धिसे दान, तप और उपासनादिका जो अनुष्ठान किया जाय उसको यज्ञ और सकल प्राणियोंके कल्याणार्थ जो दान, तप और यज्ञादिका अनुष्ठान किया जाय उसको महायज्ञ कहते हैं।

सनातनधर्मके इन अङ्ग तथा उपाङ्गोंमेंसे किसीका भी पूर्णरूपसे सात्त्विक रीतिसे अनुष्ठान करनेपर जीव मुक्ति पद तक पहुंच सकता है; क्योंकि अग्निमें जो दहन शक्ति है वह उसके एक सामान्य स्फुलिङ्गमें भी पूर्णरूपसे विद्यमान है। इसी कारण अहिंसा और ज्ञानयोग आदिके अवलम्बनसे बौद्धधर्म जगत्‌में मान्य हो गया है। वर्त्तमान यूरोप और अमेरिका केवल कर्त्तव्यप्रियता, देशसेवा तथा उसके लिये स्वार्थत्याग, सत्यप्रियता, गुणपूजा, ज्ञानार्जनस्पृहा, नियमपालन, नियमबद्ध व्यवस्था आदि थोड़ी ही धर्मवृत्तियोंके साधनसे आजदिन जगत्‌में प्रतिष्ठित हो रहा है। जापानमें इन सब गुणोंके अतिरिक्त वृद्धसेवा, पितृपूजा, राजभक्ति, धैर्य और क्षात्रधर्म आदि कतिपय धर्मवृत्तियोंकी और भी अधिक उन्नति हो जानेसे वह क्षुद्र देश यूरोप और अमेरिकाके दाम्भिक अधिवासियोंके द्वारा भी सम्मानित हो रहा है। जिन जिन वृत्तियोंका नाम लिखा गया, सनातनधर्मके अङ्गोंके साथ मिलानेपर यही निश्चय होगा कि वे सब उसके उपाङ्ग ही हैं। यथा-सत्यप्रियता मानसिक तपका उपाङ्ग और स्वार्थत्याग अवस्थाभेदसे तप तथा दानका उपाङ्ग हुआ करता है। पुनः वही स्वार्थत्याग यदि स्वदेश और स्वजातिके लिये हो तो महायज्ञका उपाङ्ग समझा जायगा। इस प्रकारसे पितृपूजा उपासना यज्ञका उपाङ्ग और क्षात्रधर्म कर्मयज्ञका उपाङ्ग है। इसी तरहसे एक धर्माङ्गके बहु उपाङ्ग हो सकते हैं। पुनः एक धर्मवृत्ति अवस्था-

भेदसे विभिन्न धर्माङ्गोंका उपाङ्ग हो सकती है। यथा-स्वार्थत्याग मानसिक वृत्तिसे सम्बन्ध रखनेपर तपका उपाङ्ग होगा और वही जब दाता आदिके द्वारा प्रकाशित होगा तो दान धर्मका उपाङ्ग होगा। सनातनधर्मके अङ्गों और उपाङ्गोंके विस्तारपर जब विज्ञानवित् पुरुषगण ध्यान देते हैं तो उनको प्रमाणित होता है कि सनातनधर्म्मके किसी न किसी अङ्गोपाङ्गकी सहायतासे पृथिवी भरके सब उपधर्म, पन्थ और सम्प्रदायोंको धर्मसाधनोंकी सहायता प्राप्त हुई है। धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध आदि धर्मवृत्तियां तो सभी जाति, सभी धर्म तथा सभी समाजके मनुष्योंको समानरूपसे धर्माधिकार प्रदान किया करती हैं। इस प्रकारसे विचार करनेपर सिद्धान्त होगा कि सनातनधर्म ही पृथिवीभरके समस्त धर्मोंका पितृरूप है और इस प्रकार पितृरूप होनेसे संसारके समस्त धर्मोंके प्रति सनातनधर्मकी दया तथा सहानुभूतिकी दृष्टि रहती है। सनातनधर्म किसी धर्मसम्प्रदाय या उपधर्मका खण्डन नहीं करता है; परन्तु विचारवान् पिता जिस प्रकार विविध गुणसम्पन्न पुत्रोंको निज निज अधिकारानुसार प्रेमके साथ कर्त्तव्यपथमें नियोजित करता है उसी प्रकार सनातनधर्म भी समस्त धर्मसम्प्रदाय, धर्ममार्ग, धर्मपन्थ तथा उपधर्मोंको भिन्न भिन्न अधिकारके अनुसार सहानुभूतिके साथ कर्त्तव्यपथमें प्रेरित करता है इसीलिये सनातनधर्मका सिद्धान्त ही यह है कि—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

विशेष गुण न होनेपर भी जिस धर्ममें जो उत्पन्न हुआ है उसके लिये वही धर्म मङ्गलदायक है और दूसरेका धर्म उत्तम होनेपर भी मङ्गलजनक नहीं है; क्योंकि जिस धर्ममें जिसकी उत्पत्ति होती है

वह उसकी स्थूल-सूक्ष्म प्रकृतिके अनुकूल है, अतः कल्याणप्रद है, इस कारण अपने धर्ममें मरना भी अच्छा है, किन्तु दूसरेका धर्म ग्रहण करना ठीक नहीं है, प्रत्युत भयजनक है और इसी कारण परधर्म खण्डनकारीकी सनातनधर्म प्रशंसा नहीं करता है। उसका सिद्धान्त ही यह है—

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्।
अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मो मुनिपुङ्गव ॥

जो धर्म अन्य धर्मको बाधा देता है वह सद्धर्म नहीं है परन्तु कुधर्म है। जो धर्म किसीसे विरोध नहीं रखता है वही वास्तवमें धर्मपदवाच्य है। जिस दिन सनातनधर्मके इस अति महान्, परमोदार, सकल जगत्कल्याणकर सार्वभौम स्वरूपको हृदयङ्गम करके हिन्दुजाति अपने कर्तव्यपथमें अग्रसर होगी उसी दिन करुणामय भगवान्की कृपादृष्टि इस जातिपर अवश्य होगी और उसी दिन इसका सौभाग्यसूर्य दशदिशाओंको आलोकित कर देगा इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

धर्मेणैव जगत् सुरक्षितमिदं धर्मो धराधारकः।
धर्माद्वस्तु न किञ्चिदस्ति भुवने धर्माय तस्मै नमः ॥

वर्णधर्म।

(३)

पूर्व अध्यायमें साधारणधर्मके अनेक अङ्गोंका संक्षिप्त वर्णन करके अब विशेष धर्मके कुछ अङ्गोंका रहस्य वर्णन किया जाता है। विशेष धर्मके लक्षणके विषयमें पहले ही बताया गया है कि अधिकारकी विशेषता तथा प्रकृतिके क्रमोन्नत-मार्गमें स्थितिकी विशेषताके अनुसार विशेष धर्मकी व्यवस्था होती है, इसलिये विशेष धर्मके अनुष्ठानमें पात्रका विचार बहुत कुछ रहता है और यही कारण है

कि अज्ञानताके हेतु पात्रापात्र निर्णयमें भ्रमकी सम्भावना होनेसे विशेष धर्मकी व्यवस्थामें भी आजकल बहुत असुविधा हो रही है। दृष्टान्तरूपसे वर्णधर्मका रहस्य बताया जाता है। आजकल जन्मानुसार चार वर्णोंके अस्तित्व स्वीकार करनेमें तथा उसीके अनुसार उनके पृथक् पृथक् कर्त्तव्य निर्देषके विषयमें लोगोंके अनेक मतभेद पाये जाते हैं। बहुत लोगोंकी तो यह सम्मति है कि वर्णभिन्नताको तोड़कर जबतक सब वर्णोंको एक न कर दिया जायगा तबतक हिन्दुजातिकी उन्नति ही नहीं हो सकती है क्योंकि इस प्रकार भेदभावके फलसे ही जातीय एकता नष्ट होनेसे हिन्दुजातिको दुर्दशा प्राप्त हुई है और इस प्रकारसे सभी वर्णके मनुष्योंको इच्छानुसार उन्नति न करने देनेसे जातीय उन्नतिमें बहुत कुछ बाधा हो रही है। अतः उनकी सम्मतिमें वर्णधर्मको नष्ट कर देना ही स्वराज्य प्राप्ति तथा सकल प्रकारकी उन्नतिका निदान है।

आर्य्यजातिका प्राचीन इतिहास तथा हमारे पूर्वपुरुषोंके विचारपर ध्यान देनेसे इस प्रकारका सिद्धान्त सर्वथा भ्रमयुक्त प्रतीत होता है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि श्रीभगवान् रामचन्द्रके राज्यकालमें आर्य्यप्रजाको जिस प्रकार शान्ति थी वैसी शान्ति न कभी भूतकालमें हुई है और न भविष्यत्‌में होनेकी आशा है तथापि उनके राज्यकालमें वर्णव्यवस्थाका पूरा ही जोर देखनेमें आता है। उन्होंने परशुरामकी उद्दण्डताको देखते हुए भी उनपर शस्त्रप्रहार न करके केवल इतना ही कहा था—

ब्राह्मणोऽसीति पूज्यो मे विश्वामित्रकृतेन च।
तस्माच्छक्तो न ते राम मोक्तुं प्राणहरं शरम्॥

आप ब्राह्मण होनेके कारण मेरे पूज्य हैं और गुरु विश्वामित्रके साथ भी आपका सम्बन्ध है, इसलिये मैं क्षत्रिय आपपर प्राणनाशक बाणका निक्षेप नहीं कर सकता। इसके सिवाय यह भी विषय रामायणमें प्रसिद्ध है कि शम्बूक नामक एक शूद्रवर्णके मनुष्यको

सशरीर स्वर्ग जानेके लिये तप करते देखकर उन्होंने उसका सिर काट दिया था और वैसा करनेसे ही ब्राह्मणके मृत पुत्रने पुनर्जीवन-लाभ किया था; क्योंकि जिस प्रकार तपस्या वह शूद्र कर रहा था, युगधर्मके विचारसे त्रेतायुगमें उस प्रकार तपस्यामें शूद्र वर्ण-का अधिकार नहीं था और इस प्रकार अनधिकार चर्चाके होनेसे ही रामराज्यमें पापका उदय होकर ब्राह्मणकुमारकी अकाल मृत्यु हुई थी। अतः यह सिद्धान्त हुआ कि राज्यशान्ति तथा उन्नतिके लिये वर्णधर्मका नाश करना निदान नहीं है, बल्कि यत्नके साथ रक्षा करना ही निदान है। द्वितीयतः स्वराज्य लाभके विषयमें भी हमारे पूर्वजोंका दृष्टान्त ध्यान देने योग्य है। हम जिस राज्य-के लोभसे वर्णधर्मको नष्ट करना अवश्य कर्त्तव्य समझने लगे हैं, वर्णधर्मके नाशके द्वारा वर्णसङ्कर उत्पन्न होनेकी आशङ्कासे हमारे पूर्वज महावीर अर्जुनने उसी राज्यको परित्याग करके भिक्षा मांगना भी पसन्द किया था। कुरुक्षेत्रके रणाङ्गणमें गाण्डीव त्याग करते समय उन्होंने भगवान् कृष्णचन्द्रको यही बताया था—

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोभिभवत्युत ॥
अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यंति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः ॥
सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥

संग्राममें पुरुषोंके मारे जानेसे कुलक्षय होगा जिससे सनातन कुलधर्म भी नष्ट हो जायगा। कुलधर्मके नाशसे कुलमें पाप छा जायगा। पापके छा जानेसे कुलस्त्रियां पापिनी होकर वर्णसङ्कर सन्तानोंको उत्पन्न करेंगी और इस प्रकारसे वर्णधर्म भ्रष्ट होकर वर्णसङ्कर सृष्टि हो जानेसे कुल, कुलहन्ता सभीको नरक होगा और

पितृपुरुषगण पिण्डलोपके कारण पतित हो जायंगे। इस प्रकारसे वर्णधर्म नाशकी आशङ्कासे ही अर्जुनने युद्ध करनेसे इनकार किया था। अतः प्राचीन आर्य्य इतिहासोंपर मनन करनेसे यही सिद्धान्त होता है कि वर्णधर्मका नाश ही स्वराज्य प्राप्तिका कारण नहीं है। केवल इतना ही नहीं, आप्तकाम श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रको संसारमें कोई कर्त्तव्य न रहनेपर भी उन्होंने केवल वर्णधर्मकी रक्षाके लिये ही अपने अवतारकालमें अनन्त कर्मानुष्ठान किया था। उन्होंने गीतामें अर्जुनको स्पष्ट ही कहा था—

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥

संसारमें मेरा कोई भी कर्त्तव्य नहीं है और न कुछ अप्राप्य या अप्राप्त ही है तथापि मैं कर्ममें लगा रहता हूँ। इसका कारण यह है कि यदि मैं निरलस हो कार्यमें लगा न रहूँ तो संसारके लोग भी मेरा आदर्शानुसरण करके निश्चेष्ट तथा प्रमादी हो जायंगे और इस तरहसे लोगोंके कर्मयोगहीन तथा प्रमादी हो जानेपर संसार-में अनर्थ उत्पन्न होगा, जिससे लोकनाश, वर्णसङ्करप्रजासृष्टि और प्रजानाश होने लगेगा और मैं इस प्रकार पापमय अनर्थोंका निमित्त समझा जाऊँगा। इन सब महान् उपदेशोंसे यही सिद्धान्त निक-लता है कि जिस वर्णधर्मकी विशेष स्थितिके लिये भगवान् कृष्ण-चन्द्र, भगवान् रामचन्द्र, महावीर पार्थ आदि पूज्यपुरुषगण सदा सन्नद्ध रहते थे और जिस वर्णधर्मके लिये उन सभोंने अनन्त असु-विधाएं भोगी थीं, वह वर्णधर्म जातीय उन्नतिका बाधक और उसका

विध्वंसन जातीय उन्नतिका साधक कदापि नहीं हो सकता है अतः वर्त्तमान दूरदर्शिताहीन तरल युक्तियोंसे अधीर न होकर प्राचीन वर्णमर्यादाकी वैज्ञानिकताकी ओर धीर होकर विचार करना ही भावी शुभका सूचक होगा इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। प्राचीन कालमें महर्षिगण तथा महापुरुषगण वर्णधर्मकी मर्यादाको किस प्रकारसे सुरक्षित रखते थे सो प्राचीन इतिहासके पाठ करनेपर सम्यकरूपसे विदित हो सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण परमात्माके पूर्णावतार थे तथापि उनका स्थूल शरीर क्षत्रियवर्णका होनेके कारण धर्मराज युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें उन्होंने निमन्त्रित ब्राह्मणोंकी सेवा करनेका काम लिया था। महाभारतके प्रजागर पर्वमें वर्णन है कि जिस समय अन्धराजा धृतराष्ट्रने धार्मिकप्रवर विदुरजीसे समस्त रात्रि नाना शास्त्रके उपदेश लेनेके बाद अन्तमें ब्रह्मज्ञान विषयक प्रश्न करना चाहा तब विदुरजीने यह उत्तर दिया कि—

"शूद्रयोनावहं जातो नातोऽन्यद्वक्तुमुत्सहे"

मैं शूद्रयोनिमें उत्पन्न हुआ हूँ इसलिये इससे अधिक कहनेका साहस नहीं करता हूं। वैसा कहकर महात्मा विदुरजीने धृतराष्ट्रके कल्याणके लिये महर्षि सनत्कुमारको ध्यानयोगसे उनके पास बुला दिया और स्वयं चले गये। इन सब वृत्तान्तोंसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्राचीन महापुरुषोंके हृदयमें वर्णधर्मकी मर्यादा विशेष दृढ़-मूल थी और स्थूल शरीरके साथ वर्णधर्मके सम्बन्धको हमारे पूज्य-चरण पिता पितामह अवश्य मानते थे और उसीके अनुसार सामाजिक समस्त व्यवस्थाको बांधते थे। अब नीचे वर्णधर्मका वैज्ञानिक रहस्य बताकर विशेष धर्मके इस उत्तम अङ्गका समाधान किया जाता है।

वर्णधर्म किसी मनुष्यका बनाया हुआ धर्म नहीं है; परन्तु प्रकृतिके त्रिगुणानुसार स्वभावसे उत्पन्न स्वाभाविक वस्तु है। प्रकृतिके सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। जीव तमोगुणके राज्यमें

उत्पन्न होकर रजोगुणके भीतरसे क्रमशः सत्त्वगुणकी ओर चलता है और अन्तमें सत्त्वगुणकी पराकाष्ठापर पहुंचकर गुणातीत ब्रह्ममें लीन हो जाता है। यह जो तीन गुणोंके भीतरसे जीवकी उन्नतिका क्रम है इसीको वर्णधर्म कहा गया है। जबतक जीव तमोगुणमें रहता है तबतक शूद्र कहलाता है, जब और कुछ अग्रसर होकर रजोमिश्रित तमोगुणके अधिकारको पाता है तब वैश्य कहलाता है, जब और भी उन्नत होकर रजोमिश्रित सत्त्वगुणकी अवस्थाको लाभ करता है तब क्षत्रिय वर्ण होता है और तदनन्तर रजस्तमोहीन शुद्ध सत्त्वगुणको जो अवस्था है वही ब्राह्मण वर्ण है। इस प्रकारसे संसारके सर्वत्र तीन गुणोंके अनुसार चार वर्ण स्पष्ट तथा अस्पष्ट रूपसे देखनेमें आते हैं। जहां प्रकृतिकी पूर्णता है वहां प्राकृतिक तीन गुणकी भी पूर्णता है, इसलिये वहांपर चार वर्ण स्पष्टरूपसे देखनेमें आते हैं और समाजकी प्रचलित व्यवस्थामें भी उसकी गणना होती है। जहांपर प्रकृतिकी पूर्णता नहीं है, वहां जिस गुण-की या जिन गुणोंकी प्रधानता है उसी या उन्हींके अनुसार वर्णाश्रम-का अल्प प्रकाश देखनेमें आता है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि भारतवर्षकी स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों प्रकृति ही पूर्ण है। स्थूल प्रकृतिकी * पूर्णता होनेसे यहांपर षड् ऋतुओंका पूर्ण विकाश आदि अनेक लक्षण देखनेमें आते हैं, सूक्ष्म अर्थात् दैवी प्रक-तिकी पूर्णता होनेसे यहांपर दैव पीठ तथा अनेक भगवदवतारोंके आविर्भाव होते हैं और कारण अर्थात् आध्यात्मिक प्रकृतिकी पूर्णता होनेसे यहांपर महर्षियोंकी शुद्ध बुद्धि द्वारा ज्ञानभण्डार वेद तथा ब्रह्मज्ञानका विकाश हुआ है। इसलिये जब भारतवर्षमें प्रकृतिकी ही पूर्णता है तो तीनों गुणाकी भी पूर्णता है और इसी कारण भार-

* भारतकी प्राकृतिक पूर्णताका वर्णन "नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत" नामक ग्रन्थमें द्रष्टव्य है।

तीय हिन्दु समाजमें चार वर्णकी स्वाभाविक व्यवस्था है। इस स्वभावके नष्ट करनेकी चेष्टा करनेपर हिन्दुजाति उन्नति नहीं कर सकेगी, परन्तु स्वभावके नाशसे नष्ट ही हो जायगी। पृथ्वीके अन्यान्य देशोंमें प्राकृतिक पूर्णता न होनेके कारण तीन गुणोंकी पूर्णता नहीं है। इसलिये उन देशोंकी जातियोंमें भी वर्णधर्मकी स्वाभाविक समाजगत व्यवस्था नहीं है। तथापि तीन गुणोंका आंशिक विकाश होनेके कारण वहांपर भी वर्णधर्मका अस्पष्ट विकाश है, जो सामाजिक व्यवस्थामें परिगणित न होनेपर भी विचारवान् सूक्ष्मदर्शी पुरुषोंके नेत्रमें परिदृष्ट होता है। केवल इतना ही नहीं अधिकन्तु समस्त संसार त्रिगुणमयी प्रकृतिका विकाशरूप होनेके कारण अस्पष्टरूपसे मनुष्यके नीचेकी योनियोंमें भी वर्णधर्मकी, व्यवस्था देखनेमें आती है, यथा तैत्तिरीय संहितामें—"ब्राह्मणो मनुष्याणां अजः पशूनां" "राजन्यो मनुष्याणामविः पशूनां" "वैश्यो मनुष्याणां गावः पशूनां" "शूद्रो मनुष्याणां अश्वः पशूनां" अर्थात् मनुष्यकी तरह पशुयोनिमें छाग आदि ब्राह्मण पशु, भेड़ सिंह आदि क्षत्रिय पशु, गौ आदि वैश्य पशु और अश्व आदि शूद्र पशु हैं। पक्षियोंमें भी शुक, कबूतर आदि ब्राह्मण, बाज, तीतर आदि क्षत्रिय, मोर आदि वैश्य और काग गीध आदि शूद्र पक्षी हैं। वृक्षोंमें भी वट, अश्वत्थ आदि ब्राह्मण, शाल, सगवान आदि क्षत्रिय, आम कटहर आदि वैश्य और बांस आदि शूद्र वृक्ष हैं। इतना तक कि काष्ठके भीतर भी चार वर्णोंकी व्यवस्था आदि शास्त्रमें बताई गई है, यथा-वृक्षायुर्वेदमें-

लघु यत् कोमलं काष्ठं सुघटं ब्रह्मजाति तत्।
दृढाङ्गं लघु यत् काष्ठमघटं क्षत्रजाति तत् ॥
कोमलं गुरु यत् काष्ठं वैश्यजाति तदुच्यते।
दृढाङ्गं गुरु यत् काष्ठं शूद्रजाति तदुच्यते ॥

जो काष्ठ लघु, कोमल और दूसरे काष्ठसे सहज ही मिल सकता है वह ब्राह्मणजातीय है। जो काष्ठ लघु और दृढ़ है तथा अन्य

काष्ठसे मिल नहीं सकता वह क्षत्रियजातीय है। कोमल और भारी काष्ठ वैश्यजातीय तथा दृढ़ और भारी काष्ठ शूद्रजातीय है। काष्ठकी तरह मिट्टीमें भी चार वर्ण देखे जाते हैं, यथा श्वेतवर्णकी मिट्टी ब्राह्मण, लालवर्णकी मिट्टी क्षत्रिय, पीतवर्णकी मिट्टी वैश्य और कृष्णवर्णकी मिट्टी शूद्र है। मनुष्यके नीचेकी योनियोंकी तरह ऊपरकी देवयोनियोंमें भी चारवर्ण हैं, यथा तैत्तिरीय संहितामें— "अग्निर्देवता अन्वसृज्यत" "इन्द्रोदेवता अन्वसृज्यत" "विश्वेदेवा देवता अन्वसृज्यन्त" "भूयिष्ठा हि देवता अन्वसृज्यन्त" इत्यादि देवताओंमें अग्नि आदि देवता ब्राह्मण हैं,इन्द्रादि लोकपालगण क्षत्रिय हैं, विश्वेदेवा वैश्य देवता हैं और अनेक श्रेणीके देवता शूद्र हैं। अतः यह सिद्धान्त हुआ कि त्रिगुणमयी प्रकृतिके सर्वत्र ही त्रिगुणानुसार चार वर्ण कहीं स्पष्टरूपसे और कहीं अस्पष्टरूपसे विद्यमान हैं। इसलिये इस प्रकार स्वभावसिद्ध वर्णधर्मके नाशसे जाति उन्नत न होकर नाशको ही प्राप्त हो जायगी। इसको नष्ट न करके इसका सुधार तथा देशकालपात्रानुसार सामञ्जस्य करना ही दूरदर्शिताका कार्य होगा।

वर्णधर्मका विस्तार बताकर अब गम्भीरता बताते हैं। वर्ण जब प्रकृतिका स्वाभाविक धर्म है तो प्रकृतिके सकल अङ्ग तथा भावोंके साथ इसका अवश्य ही सम्बन्ध होना चाहिये, अर्थात् जहां तक प्रकृतिका प्रवेश है वहांतक वर्णधर्मका भी सम्बन्ध मानना चाहिये। मनुष्यके स्थूल सूक्ष्म कारण तीनों शरीर त्रिगुणमयी प्रकृतिके उपादानसे ही उत्पन्न हुए हैं। अतः त्रिगुणानुसार वर्णधर्मका भी सम्बन्ध तीनों शरीरोंके अथवा अध्यात्म अधिदैव अधिभूत तीनों भावोंके साथ अवश्य होगा। बल्कि तीनोंकी पूर्णतासे ही वर्णधर्मकी पूर्णता समझी जायगी। जन्मका सम्बन्ध स्थूलशरीरके साथ, कर्मका सम्बन्ध सूक्ष्म शरीरके साथ और ज्ञानका सम्बन्ध कारणशरीरके साथ है; अर्थात् जन्मका सम्बन्ध आधि

भौतिक, कर्मका सम्बन्ध आधिदैविक और ज्ञानका सम्बन्ध आध्यात्मिक है। अतः कोई भी वर्ण जबतक जन्म, कर्म तथा ज्ञानमें पूर्ण न हो तबतक पूर्ण वर्ण नहीं कहला सकता। पूर्ण ब्राह्मण वही होगा जो जन्मसे भी ब्राह्मण हो, कर्मसे भी ब्राह्मण हो और ज्ञान भी ब्राह्मणोचित हो पूर्ण क्षत्रिय वही होगा जिसमें जन्म, कर्म तथा ज्ञान तीनों ही क्षत्रियवर्णोचित होगा। इसी प्रकार और दो वर्णोंके विषयमें भी समझना चाहिये। इसीलिये महाभारतके अनुशासनपर्वमें कहा है—

तपः श्रुतञ्च योनिश्चाप्येतद्ब्राह्मणकारणम्।
त्रिभिर्गुणैः समुदितस्ततो भवति वै द्विजः॥

तपस्यादि कर्म, ज्ञान और जन्म तीनोंसे युक्त होनेपर तब ब्राह्मण पूर्ण ब्राह्मण होंगे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णोंकी पूर्णताके लिये तीनों गुणोंकी अपेक्षा है। यदि इन तीनोंमेंसे किसीकी कमी रहे तो पूर्ण वह वर्ण नहीं कहला सकते. यथा—यदि केवल जन्मसे ही ब्राह्मण हो किन्तु ब्राह्मणोचित कर्म न करे अथवा ज्ञानी न हो तो पूर्ण ब्राह्मण नहीं कहला सकता। इसी प्रकार क्षत्रियादिके विषयमें भी समझना उचित है। इसीलिये श्रीभगवान् मनुजीने कर्महीन और ज्ञानहीन ब्राह्मणोंके विषयमें कहा है—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥
यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला।
यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः॥

जिस प्रकार काठका हाथी और चर्मका मृग नकली है उसी प्रकार मूर्ख ब्राह्मण भी नाममात्र ब्राह्मण है। जिस प्रकार स्त्रीके लिये नपुंसक, गौके लिये गौ और अज्ञको दान देना निष्फल है उसी प्रकार अज्ञानी ब्राह्मण निष्फल है अर्थात् ऐसे ब्राह्मण केवल शरीरसे ही

ब्राह्मण हैं, कर्म और ज्ञानसे अब्राह्मण हैं। इसी प्रकार अन्य वर्णोंके विषयमें भी समझना चाहिये।

यहां पर यह बात अवश्य ही ध्यान देने योग्य है कि जन्म, कर्म और ज्ञान इन तीनोंके साथ वर्णधर्मका सम्बन्ध रहनेपर भी जन्मके साथ वर्णधर्मका साक्षात् और अतिघनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि पूर्व-जन्ममें मनुष्य जिस प्रकार कर्म करता है उसीके अनुसार ही ब्राह्मणादि वर्णोंमें उसका जन्म होता है। श्रीभगवान् पतञ्जलिने योग-दर्शनमें कहा है—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः ।

प्रारब्धकर्मके मूलमें रहनेसे उसके फलरूपसे जीवको जाति, आयु और भोग, ये तीन वस्तुएं मिलती हैं। जिसका पूर्वकर्म सत्त्व-गुणप्रधान है उसका जन्म ब्राह्मण पिता मातासे होता है, जिसका पूर्वकर्म रजःसत्त्वप्रधान है उसका जन्म क्षत्रिय पिता मातासे होता है, जिसका पूर्वकर्म रजस्तमःप्रधान है उसका जन्म वैश्य पिता माता-से होता है और जिसका पूर्वकर्म तमःप्रधान है उसका जन्म शूद्र पिता मातासे होता है। इस प्रकारसे सत्त्व आदि त्रिगुण तथा पूर्वकर्मानुसार जीवका ब्राह्मणादि वर्ण तथा आर्य्य अनार्य्य आदि जातिमें जन्म होता है। इसीलिये श्रीभगवान्ने गीताजीमें भी कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।

सत्त्व रजः तम ये तीन गुण तथा तदनुरूप कर्मोंके विभागके अनुसार चार वर्णोंकी सृष्टि की गई है। मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र होनेसे एक वर्णका मनुष्य यदि पुरुषार्थ करे तो अन्य वर्णके मनुष्यका कर्म थोड़ा बहुत कर सकता है, किन्तु पूर्वगुणोंके अनुसार जो स्थूल शरीर बन चुका है उसका परिवर्तन एकाएक नहीं हो सकता है। इसलिये एक वर्णका मनुष्य अपना कर्म उन्नत या अवनत

करता हुआ दूसरे जन्ममें अन्य वर्ण बन सकता है, किन्तु उसी जन्ममें ही बन सकता है। हां, यदि विश्वामित्र, नन्दिकेश्वर आदि-की तरह असाधारण तप आदि कर्म करे और उसके फलसे स्थूल शरीरका उपादान तक बदलकर उच्च वर्णका बन जाय तो एक ही जन्ममें वर्ण बदल सकता है। परन्तु ऐसा असाधारण कर्मका अधिकार बहुत ही विरल है और इस तमःप्रधान कलियुगमें तो एक तरहसे असम्भव ही है। इसलिये साधारण वर्णधर्मके विचार-में इस प्रकार कल्पना करना ही निरर्थक तथा अधर्म है।

जन्मके साथ वर्णधर्मका इतना सम्बन्ध होनेके कारण ही सन्तानकी उत्पत्तिके समय देवता तथा पितृगण जीवको इतनी सहायता करते हैं। सन्तानोत्पत्तिके निमित्त गर्भाधानके समय जीवोंके प्रति देवता तथा पितरोंकी सहायता बहुत ही रहस्यमयी है। जिस प्रकार प्राणशक्तिके आवर्त्तरूपी पीठमें देवता या अप-देवता तथा मूर्ति, तन्त्र आदि मन्त्रसिद्ध पीठोंमें देवता आकृष्ट होते हैं, ठीक उसी प्रकार गर्भाधानके समय स्त्रीशक्ति और पुरुषशक्तिके संघर्ष द्वारा उनके शरीरमें स्वभावतः ही पीठ उत्पन्न हो जाता है; जिसमें उत्पन्न होनेवाले अनेक जीव तथा उनकी सहायता देनेवाले देवता और पितृगण आकृष्ट होते हैं। जितने जीव उस पीठमें आकृष्ट होते हैं उनमेंसे जिसका कर्म उस प्रकार पिता माताके द्वारा उत्पन्न होने योग्य होता है वह तो वहां रह जाता है और पिताके वीर्य्यके द्वारा माताके गर्भमें प्रविष्ट हो जाता है, बाकी जीव अन्यत्र चले जाते हैं। पितृगण उस जीवके योग्य स्थूलशरीरप्राप्तिमें सहा-यता करते हैं और देवतागण उसके प्राचीन कर्मको देखकर अनुरूप गर्भमें उसे स्थापन करते हैं। इस प्रकारसे स्थूलसूक्ष्मशरीरयुक्त वह जीव कर्मानुसार जन्मको लाभ करता है, यथा भागवत्‌में—

कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये ।
स्त्रियाः प्रविष्ट उदरं पुंसो रेतःकणाश्रयः ॥

देवताओंके द्वारा सञ्चालित कर्मके अनुसार शरीर अर्थात् जन्म-लाभके लिये जीव पिताके शुक्रको आश्रय करके माताके गर्भमें प्रवेश करता है। उसका पूर्वकर्म जिस वर्णमें जन्म देने योग्य होता है, उसी वर्णके माता पिताके द्वारा उसको स्थूल शरीरकी प्राप्ति होती है और स्थूल शरीरका प्रत्येक अङ्ग प्रत्यङ्ग भी पूर्वकर्मानुसार ही होता है। अतः सिद्ध हुआ कि जन्मके साथ वर्णका सम्बन्ध अति-घनिष्ठ है और पूर्व कर्मानुसार स्थूल शरीरके किसी वर्णमें बन चुकनेके कारण एकाएक वर्णका परिवर्तन कदापि नहीं हो सकता है और इसी कारण मन्वादि स्मृतिकारोंने जन्मानुसार ही नामकरण उपनयन आदि परवर्त्ती संस्कारोंका विधान किया है। यथा—

नामधेयं दशम्यान्तु द्वादश्यां वाऽथ कारयेत्।
पुण्ये तिथौ मुहूर्त्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥
माङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात् क्षत्रियस्य बलान्वितम्।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम ॥
गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्यौपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥

जात बालकका नामकरण जन्मसे दसवें दिन या बारहवें दिनमें करना चाहिये अथवा पुण्यतिथि, मुहूर्त्त या शुभ नक्षत्रमें करना चाहिये। ब्राह्मणका नाम मंगलवाचक, क्षत्रियका बलवाचक, वैश्यका धनवाचक और शूद्रका दीनतावाचक होना चाहिये। गर्भके आरम्भकालसे अष्टम वर्षमें ब्राह्मणका, एकादश वर्षमें क्षत्रियका और द्वादश वर्षमें वैश्यका उपनयन होना चाहिये। इन सब श्लोकोंके द्वारा जन्मके साथ चार वर्णका स्पष्ट सम्बन्ध प्रमाणित होता है। अतः वर्णव्यवस्थामें जन्मही मुख्य है यह सिद्धान्त निश्चित हुआ।

जीवके जन्म तथा कर्मका रहस्य न जानकर आजकल कोई कोई

मनुष्य केवल इस जन्मके कर्मसे ही वर्णकी व्यवस्थाको मानने लगते हैं और कहते हैं कि इस जन्ममें जो जैसा कर्म करेगा वैसी ही उसकी जाति कहलावेगी। इस प्रकारका सिद्धान्त आपातमधुर होनेपर भी सर्वथा भ्रमयुक्त है। प्रथमतः पूर्व कर्मानुसार देवता तथा पितरोंकी सहायता द्वारा किस प्रकारसे जीवको आगेका शरीर मिलता है इस रहस्यको जाननेपर कोई ऐसा नहीं कह सकता कि पूर्व कर्मके साथ जातिका कोई सम्बन्ध नहीं है। द्वितीयतः मनुस्मृतिका उपनयन आदिके विषयमें जो प्रमाण दिया गया है उससे भी जन्मसे जाति स्पष्ट सिद्ध होती है। अतः एकाएक इस प्रकार कल्पना कर डालना ठीक नहीं है। इस जन्मके कर्मानुसार जातिका विचार करना कितना भ्रमात्मक है सो साधारण विचारके द्वारा ही मालूम हो सकता है। शुभाशुभ संस्कानुसार इस जन्ममें जीव किस तरहसे कार्य करता है इस विषयमें महाभारतके शान्ति पर्वमें लिखा है—

बालो युवा च वृद्धश्च यत्करोति शुभाशुभम् ।
तस्यां तस्यां अवस्थायां तत्फलं प्रतिपद्यते ॥

पूर्व जन्ममें बाल्य, यौवन या वार्धक्य जिस जिस अवस्थामें जीव जो जो शुभाशुभ कर्म संस्कार संग्रह करता है, आगेके जन्ममें ठीक उस उस अवस्थामें उन उन संस्कारोंका भोग होता है। इस शास्त्रोक्त सिद्धान्तके अनुसार कुछ भी निर्णय नहीं किया जा सकता कि किसके जीवनमें किस समय कैसे कर्मका उदय होगा; क्योंकि जीवोंके प्राक्तन संस्कार प्रायः तीनों गुणोंके मिले जुले होते हैं; अर्थात् बाल्य यौवन वार्द्धक्यके बीचमें संग संस्कार आदिके वश होकर जीव नाना प्रकारके सात्त्विक, राजसिक, तामसिक, तीन गुणके कर्म करते हैं और उन उन अवस्थाओंमें उनके संस्कार फलोन्मुख भी होते हैं। पूर्वजन्मके बालकपनमें किये हुए सद्सत् कर्मोंका फलभोग आगे जन्ममें बाल्यावस्थामें ही होता है,

यौवनकालमें किये हुए सदसत् कर्मोंका फलभोग यौवनावस्थामें ही होता है इत्यादि। अतः इस बातको कोई नहीं कह सकता है कि मनुष्यके जीवनमें किस समय कैसे कर्मका उदय होगा। संसारमें भी देखा जाता है कि घोर पाप कर्म करनेवाले भी अचानक परम महात्मा बन जाते हैं और सदाचारी महाशय व्यक्तिका भी पतन हो जाता है। अतः यदि इसी जन्मके कर्मानुसार वर्णव्यवस्था करनी हो तो एक ही मनुष्यके एक ही जीवनमें कई प्रकारके वर्ण बन सकते हैं, यथा—कोई ब्राह्मण देशकालके प्रभावसे ब्राह्मणवृत्तिके न चलनेके कारण यदि वाणिज्यादि कार्यमें लग जाय तो वह वैश्य हो जायगा, पुनः फौजमें भर्त्ती होनेपर क्षत्रिय हो जायगा, पुनः किसीकी नौकरी कर लेनेपर शूद्र हो जायगा इत्यादि इत्यादि। इस प्रकारसे एक ही घरमें कितने प्रकारके वर्ण बन जायेंगे इसका क्या ठिकाना है? इसमें पिताके वर्णके साथ पुत्रके वर्णकी एकता अनेक समयपर नहीं हो सकेगी। क्योंकि दुकानदार अर्थात् वैश्य वर्णके पिताका पुत्र पढ़ लिखकर ब्राह्मण बन सकता है। एक पितासे उत्पन्न सहोदर भाइयोंमें भी कई प्रकारके वर्ण बन सकते हैं। स्त्री पुरुषके तथा माता पुत्रके वर्णमें भी प्रभेद हो सकता है। अतः इस दशामें घरको कैसी व्यवस्था होगी और वैश्य पिताका ब्राह्मण पुत्र पितृ-मातृ-भक्ति किस प्रकारसे करेगा इन सब बातोंपर चिन्ता तथा विचार करनेसे इस जन्मके कर्मानुसार वर्णधर्मनिर्णयकी कल्पना संपूर्ण भ्रमयुक्त प्रमाणित हो जायगी। अतः केवल इस जन्मके कर्मानुसार वर्णधर्म मानना अशास्त्रीय, अदूरदर्शितापूर्ण तथा भ्रमात्मक है।

वर्णधर्म आर्यजातिका प्राणस्वरूप है। इसके बिना आर्यजातिका संसारमें कदापि अस्तित्व नहीं रह सकता है। आर्यजातिके ऊपर हजारों वर्षोंसे विजातीय अत्याचार तथा आक्रमण होनेपर भी आजतक जो यह जाति जीवित है इसका भी मूल कारण वर्णधर्म ही है। अतः ऊपरी दृष्टिसे देखकर इसके प्रति उपेक्षा न करके,

धीर होकर सूक्ष्मदृष्टि द्वारा वर्णधर्मको महिमा तथा उपकारिताका तत्त्वान्वेषण करना चाहिये। तभी आर्यजातिका कल्याण होगा। नीचे संक्षेपसे वर्णधर्मकी उपकारिता तथा आवश्यकताके विषयमें कुछ विचार किया जाता है।

(१) मनुष्यके शरीरमें जितने अङ्ग हैं, प्रत्येक अङ्गोंके साथ विचार करनेपर उन सभीको चार भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। यथा-मुखमण्डल या मस्तक, हस्त, ऊरुदेश या उदर और चरण। मनुष्य-शरीरकी रक्षाके लिये जिन जिन वस्तुओंकी आवश्यकता होती है वे सब इन चारोंके द्वारा ही संगृहीत हुआ करती हैं। दिमाग सोचकर शरीररक्षाका उपाय निर्णय करता है। हस्त उसका संग्रह तथा उसकी बाधाओंको दूर करता है, उदर संगृहीत वस्तुओंको पकाकर, मस्तक, हस्त, पद सर्वत्र शक्ति पहुँचाता है और चरण सेवकरूपसे सारे शरीरको वस्तुसंग्रहमें सहायता करता है। अतः सम्पूर्ण शरीरकी रक्षाके लिये इन चारों अङ्गोंकी विशेष आवश्यकता है। इनमेंसे एक अङ्ग दूसरे अङ्गका कार्य कदापि नहीं कर सकता है, यथा—मस्तकका जो चिन्ता करना रूप कार्य है, वह हस्त, उदर या चरण किसीके द्वारा भी नहीं हो सकता है और मस्तक भी हस्तचरण आदिका कार्य नहीं कर सकता है। उदरका कार्य उदर ही कर सकता है, अन्य किसी अङ्गके द्वारा वह कार्य नहीं हो सकता है। इसलिये अपने अपने कार्यके विचारसे चारों ही अङ्ग आदर करने योग्य हैं और चारोंकी परस्पर प्रीति तथा समवेत सहायताके द्वारा ही सम्पूर्ण शरीरकी सुरक्षा और स्वास्थ्यरक्षा होती है। जिस प्रकार व्यष्टि शरीरकी रक्षाके लिये ऊपर लिखित चार अङ्ग हैं. ठीक उसी प्रकार समष्टि शरीररूपी समाजकी रक्षाके लिये चार वर्ण चार अङ्गरूप हैं। ब्राह्मण हिन्दुसमाजके विराट् शरीरका मुखरूप या मस्तकरूप है, क्षत्रिय उसकी भुजा है, वैश्य उदर है और शूद्र चरण है। सभी विराट् पुरुषके अङ्ग हैं और समाजकी रक्षाके लिये

सभीकी परम आवश्यकता है। इसीलिये श्रुतिमें चार वर्णोंकी उत्पत्ति विराट् पुरुषके चार अङ्गोंसे बताई गई है, यथाः—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥

ब्राह्मण विराट् पुरुषका मुख है, क्षत्रिय बाहु है, वैश्य ऊरु है और शूद्र चरण है। इन चारोंकी शक्तियां परस्परकी सहायिका बनकर कार्य करें और अपने अपने कार्य्यमें अधिकारानुसार तत्पर रहें तभी समाजमें शान्ति रह सकती है। इसीलिये महर्षियोंने इन चारों वर्णोंकी स्थूल सूक्ष्म तथा कारणशरीरकी प्रकृति प्रवृत्ति तथा अधिकारको देखकर चारोंके लिये पृथक् पृथक् कर्त्तव्य निर्देश कर दिये हैं, यथा श्रीमद्भगवद्गीतामें—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च परन्तप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्ज्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥
शौर्य्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥

पूर्वकर्मानुसार स्वभावसे उत्पन्न गुणोंके द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चारोंके कर्म निर्देश किये गये हैं। ब्राह्मणोंका स्वाभाविक कर्म शम, दम, तप, शौच, शान्ति, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्यमूलक है। क्षत्रियोंका स्वाभाविक कर्म वीरता, तेज, धैर्य्य, दक्षता, युद्धमेंसे न भागना दान और ईश्वरभावमूलक है। वैश्योंका स्वाभाविक कर्म कृषिकार्य गोरक्षा और वाणिज्यमूलक है। शूद्रोंका स्वाभाविक कार्य सेवामूलक है। आर्यशास्त्रका सिद्धान्त है कि चतु-

वर्णमेंसे शूद्रकी प्रकृति कामप्रधान, वैश्यकी अर्थप्रधान, क्षत्रियकी धर्मप्रधान और ब्राह्मणकी मोक्षप्रधान होती है। आजकल नाना कारणोंसे स्वभावका विपर्यय हो जानेके कारण चार वर्णोंमें प्रकृतिके अनुकूल कर्त्तव्यपालन अनेक स्थानमें नहीं देखा जाता है। उसमें वर्णधर्मका कोई दोष नहीं है, परन्तु धर्मोंके कर्मविपर्यय तथा जन्मविपर्ययका ही दोष है। वर्णधर्मकी व्यवस्था सम्पूर्णरूपसे प्राकृतिक है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

प्रत्येक समाजकी शान्तिमयी स्थितिके लिये सदा ही चार वस्तुओंकी अपेक्षा रहती है। (१) जातिको आत्माकी ओर उन्नति करनेके लिये ज्ञान तथा उच्च चिन्ता। (२) विदेशीय अत्याचारसे बचानेके लिये तथा भीतरी शान्तिरक्षाके लिये स्थूल बल तथा शासनशक्ति। (३) स्थूल कलेवरकी रक्षाके लिये अन्न तथा अर्थसंग्रह। (४) स्थूल आरामके लिये नाना प्रकारकी सेवा। इस प्रकार श्रमविभाग (Division of labour) के साथ जो समाज या जाति अग्रसर होती है तथा प्रकृति-प्रवृत्तिके अनुसार चार प्रकारके मनुष्य इन चारों कर्मोंमें नियुक्त किये जाते हैं, उस समाज तथा जातिमें कदापि कोई अवनति या विप्लवकी सम्भावना नहीं होती है और धीरे धीरे ऐसा समाज अवश्य ही उन्नतिकी ओर अग्रसर होता है। महर्षियोंने इन चार वस्तुओंकी आवश्यकताको देखकर प्रकृति-प्रवृत्तिके अनुसार आर्य्यजातिमें चार वर्णका कर्तव्यनिर्देश किया था। शूद्रमें तमोगुण अधिक है। तमोगुणयुक्त बुद्धिका लक्षण यह है कि अधर्ममें धर्म समझे तथा धर्ममें अधर्म समझे। जहां ऐसी विपरीत बुद्धि हो वहां स्वाधीन रूपसे कार्य करनेपर प्रमाद अनर्थ आदि अवश्यही उत्पन्न होंगे। इस कारण शूद्र वर्णके लिये महर्षियोंने यह आज्ञा की है कि वह स्वतन्त्र कार्य न करके त्रिवर्णके आज्ञानुसार उनकी सेवारूपसे कर्त्तव्य पालन करें। इस प्रकारसे कर्तव्य पालन करनेपर शूद्र

शीघ्र ही जन्मान्तरमें वैश्ययोनिको प्राप्त होंगे। वैश्ययोनिमें रजोगुण तथा तमोगुण दोनोंका आधिक्य है। रजोगुणका आधिक्य होनेसे धनलालसा वैश्यमें होना स्वाभाविक है। इसलिये उस धनलालसाके द्वारा जिससे अधोगति न हो इस कारण वैश्यजातिको गोरक्षा, चार वर्णोंका पालन आदि सत्कर्ममें उस धनको उपयोग करनेकी आज्ञा की गई, जिससे धनके द्वारा कामका पोषण न होकर धर्मसेवा द्वारा वैश्यजाति उन्नत योनियोंको लाभ कर सके। वैश्यजाति इस प्रकारसे स्ववर्णोचित कर्त्तव्य पालन द्वारा अवश्य ही शीघ्र क्षत्रिय वर्ण प्राप्त करेगी। क्षत्रियवर्णमें रजोगुण सत्त्वगुणका प्राधान्य है। रजोगुणका प्राधान्य होनेसे राजशक्तिका उदय होना क्षत्रियमें स्वाभाविक है। किन्तु वह राजशक्ति धर्मानुकूल न चलनेपर प्रजापीड़न, अन्य जाति तथा राज्यपर अत्याचार आदि अनर्थ उत्पन्न कर सकती है। इसलिये सत्त्वगुणके साथ मिलकर तदनुसार क्षत्रिय वर्णको धर्मानुकूल राज्यपालनकी, ब्राह्मणवर्णकी रक्षाकी तथा विजातीय अधार्मिक अत्याचारसे राज्यरक्षाकी आज्ञा की गई है। क्षत्रियवर्ण यदि इस प्रकारसे स्वधर्मानुष्ठान करे तो शीघ्र ही ब्राह्मणयोनिमें उसका जन्म होगा। ब्राह्मणयोनि सत्त्वगुण प्रधान है। इसलिये तपस्या, साधना, जितेन्द्रियता, संयम, आत्मानुसन्धान, आत्मज्ञान लाभ—ये ही सब ब्राह्मणवर्णके स्वाभाविक कर्त्तव्य हैं। ब्राह्मणजाति अन्य तीन वर्णोंको ज्ञानधनसे धनी करेगी, अन्य वर्ण इनकी सेवा, ग्रासाच्छादन तथा रक्षा द्वारा इसको पुष्ट करेंगे, यही ब्राह्मणोंके साथ त्रिवर्णका कर्त्तव्यविनिमय है। इस प्रकारसे चार वर्ण परस्पर सहायता द्वारा समाजरक्षाके लिये श्रमविभाग कर लेनेपर तथा अपनी अपनी प्रकृति-प्रवृत्तिके अनुसार स्वधर्मानुष्ठान करनेपर समाजमें अवश्य ही विद्रोहका अभाव, अनधिकार चर्चाका अभाव और चिरशान्ति तथा आध्यात्मिक उन्नतिकी प्राप्ति हो सकती है। यही पूज्यपाद महर्षियोंकी दूरदर्शिता

द्वारा प्रतिष्ठापित वर्णव्यवस्थाकी उपकारिता तथा हिन्दुसमाजकी उन्नतिके लिये परम आवश्यकता है।

(२) वर्णधर्म प्रवृत्तिका रोधक तथा जातिके चिरजीवन लाभके लिये एकमात्र महौषधिरूप है। मनुष्यजन्मकी प्राप्तिके पहले प्रत्येक जीवको स्थावरादि ८४ लक्ष योनियोंमें भ्रमण करना पड़ता है। स्थावर वृक्षादिमें २० लक्ष योनि, स्वेदज कृमि कीटादिकोंमें ११ लक्ष योनि, अण्डज पक्षी आदिमें १६ लक्ष योनि और जरायुज पश्वादिमें ३४ लक्ष योनि पानेके अनन्तर तब मनुष्यजन्म जीवको मिलता है। मनुष्यके नीचेकी योनियोंमें सब जीव प्रकृतिमाताके अधीन रहते हैं, इसलिये उनके आहार निद्रा भय मैथुन सभी कार्य नियमित तथा प्रकृतिप्रवाहके अनुकूल होते हैं। उनमें बुद्धिविकाश तथा अपने शरीरपर स्वामित्व न होनेसे वे अपनी इच्छासे कोई भी काम नहीं कर सकते, सभी प्रकृतिकी आज्ञानुसार करते हैं और इसी कारण उनमें पुण्य पापकी जिम्मेवरी भी नहीं होती है। वे सब प्रकृतिके क्रमोन्नतिशील प्रवाहमें बहते हुए ८४ लक्ष योनियोंको अतिक्रम करके सीधे मनुष्ययोनिमें पहुंचते हैं। उनकी क्रमोद्र्ध्वगतिमें किसी प्रकारकी बाधा या पतनकी सम्भावना नहीं होती है। परन्तु मनुष्ययोनिमें पहुंचकर जीवकी गति कुछ और प्रकारकी हो जाती है। मनुष्ययोनिमें बुद्धिका तथा अहंकारका विकाश हो जानेसे जीव प्रकृतिके नियमको अतिक्रम करके यथेच्छ इन्द्रियसेवा करते हैं। जिससे प्रकृतिके स्वाभाविक नियमानुसार क्रमोर्द्ध्वगति न होकर पुनः जीवकी नीचेकी ओर गतिकी आशंका हो जाती है। यह वर्णधर्मका ही चिरन्तन बन्ध है जो जीवकी इस निम्नगतिको रोककर मनुष्ययोनिके प्रथम स्तरसे ब्रह्मपदपर्यन्त उसकी क्रमोद्र्ध्वगतिको बनाए रखता है और प्रकृति-प्रवृत्तिके अनुसार चार वर्णोंमें मनुष्योंका कर्त्तव्य बताकर उसीकी सहायतासे मुक्तिपथको सरल कर देता है। यही जीव जगत्में वर्णधर्मका

'प्रवृत्ति रोधक' उदार भाव तथा कल्याणकारिता है। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड-सृष्टिके समय सत्त्वगुणके खास विकाशके कारण यद्यपि सत्ययुग और पुण्यात्मा मनुष्य उत्पन्न होते हैं तथापि परवर्त्ती कालमें जिस समय लोगोंकी बुद्धि पापपरायण हो जाती है तब चार वर्ण रूपी चार बन्धके द्वारा ही पापमय निम्नगति रोक दी जाती है और शास्त्रीय आचार तथा वर्णानुकूल धर्मपालन द्वारा परमात्माकी ओर पहुँचनेका मार्ग सरल कर दिया जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि वर्णधर्मके पालन द्वारा प्रवृत्तिका निरोध और परमात्माकी ओर जीवकी गति निश्चित तथा बाधारहित हो जाती है।

इस प्रकारसे गंभीर विज्ञानयुक्त वर्णधर्मकी यदि रक्षा न हो तो संसारमें क्या अनर्थ उत्पन्न होता है इसके विषयमें भी आर्यशास्त्रमें अनेक विचार किये गये हैं। महाबीर अर्जुन, कौरवोंका असह्य अत्याचार सहन करते हुए भी क्यों युद्धसे डरते थे इसके विषयमें पहले ही कहा गया है। उनको प्रधान भय यही था कि युद्धमें पुरुषोंके मर जानेपर स्त्रियोंमें अधर्म फैल जायगा और इससे वर्ण धर्मका नाश होकर वर्णसङ्कर प्रजाकी उत्पत्ति हो जायगी। वर्ण-सङ्कर प्रजाकी उत्पत्तिसे कुलनाश, जातिनाश, नरक प्राप्ति तथा पितृपुरुषोंका पिण्डलोप हो जायगा। महाबीर अर्जुनकी यह आशंका अशास्त्रीय नहीं है। क्योंकि श्रीभगवान् मनु महाराजने स्पष्ट कहा है—

यत्र त्वेते परिध्वंसा जायन्ते वर्णदूषकाः।
राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति॥

वर्णधर्मके नाशसे वर्णसङ्कर प्रजा जिस राज्यमें उत्पन्न होती है, वहां कुछ दिनोंमें ही प्रजा तथा राज्य दोनोंका ही नाश हो जाता है। केवल मनुष्यराज्यमें ही नहीं अधिकन्तु पशुराज्यमें भी देखा

जाता है कि वर्णसङ्कर पशुका वंश नहीं चलता है। गधा तमोगुणी है और घोड़ा सत्त्वगुणी है। इन दोनोंका वंश कभी नहीं नष्ट होता, किन्तु इन दोनोंके सम्बन्धसे जो खच्चर (अश्वतर) की जाति बनायी जाती है उसका वंश कदापि नहीं चलता है। इस प्रकार अन्यान्य पशु पक्षी तथा वृक्ष तकमें भी देखा जाता है कि वर्णसंकर सृष्टिको प्रकृति स्वयं ही आगे चलनेसे रोक देती है। इसका कारण यह है कि प्रकृतिके स्वाभाविक तीन गुणोंके अनुसार चार वर्ण हो सकते हैं और प्रकृतिकी समस्त शक्ति प्राकृतिकरूपसे इन तीनों गुणोंके द्वारा चार वर्णकी चार धाराओंमें ही बटी हुई है। अतः इन चार धाराओंमेंसे किसी भी धारामें जीव बह चले तो प्रकृति-माता निज शक्ति द्वारा उसे उन्नत करती हुई ब्रह्मतक पहुंचा सकती हैं। परन्तु इन चारोंके बीचमें यदि कोई अप्राकृतिक पांचवी धारा जबरदस्ती बनाई जाय तो उसे आगे बढ़ानेके लिये चारों धारोंमें बटी हुई प्रकृतिकी चार शक्तियोंके सिवाय और कोई पांचवी शक्ति है ही नहीं। यही कारण है कि वह अप्राकृतिक वर्णसङ्करी पांचवी धारा आगे नहीं चलती और चारोंके ही बीचमें लय हो जाती है। अतः विचारके द्वारा देखा गया कि मनुजीके कथनानुसार वर्ण-सङ्कर प्रजाकी उत्पत्ति होनेपर राज्यनाश तथा प्रजानाश हो जाता है। प्रत्यक्षरूपसे देखा भी जाता है कि उच्च कुलोंमें वर्णसङ्कर वंशका नाश ही हो जाता है। पितृगण ऐसे पापमय अप्राकृतिक वंशोंको चलने नहीं देते। एक आध पुरुषके बाद ही वैसे वंश नष्ट हो जाते हैं। इसलिये किसी जातिके चिरजीवनके लिये वर्णधर्मका पालन होना एकान्त आवश्यक है। संसारमें शत शत जातियोंके नाश होनेपर भी आर्यजाति केवल वर्णधर्मके कारण ही इस दीन-हीन दशामें भी जीवित है। और जबतक इसका वर्णधर्म अटूट रहेगा तबतक सहस्र चेष्टा करनेपर भी कोई इसको नष्ट नहीं कर सकेगा। वर्णसङ्कर प्रजोत्पत्तिके द्वारा पितरोंका श्राद्ध नहीं होता

है यह भी विषय पूर्णरूपसे विज्ञानमूलक है। क्योंकि मृत पितरोंके आत्माके साथ श्राद्धमें श्राद्धकर्त्ता पुत्रके आत्मा तथा मनका सम्बन्ध होता है और इसीसे पितृगण श्राद्धस्थानमें आकर श्राद्ध ग्रहण करते हैं। यह कार्य तभी सम्पन्न हो सकता है जब सन्तानका अन्तःकरण पिता माताके अन्तःकरणसे ठीक मिला हुआ हो, किन्तु वर्णसङ्कर प्रजामें ऐसा हो नहीं सकता है। क्योंकि उसमें पिता एक वर्णका तथा माता अन्य वर्णकी होनेसे उन दोनोंके विलोम सम्बन्ध द्वारा उत्पन्न सन्तानका मन न पितासे ही ठीक मिल सकता और न मातासे ही ठीक मिल सकता है। अतः उसके किये हुए श्राद्धसे पितरोंकी तृप्ति, प्रेतयोनिसे उनकी मुक्ति न होकर उनका पतन होता है। यही वैज्ञानिक सत्यतायुक्त भय अर्जुनको था और यही सकल शास्त्रोंमें वर्णित किया गया है। पितरोंकी असम्वर्द्धनासे देशमें स्वास्थ्यभङ्ग, दुर्भिक्ष, महामारी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि नाना प्रकारके दुर्दैव उत्पन्न होकर देश रसातलको जाता है। अतः सकल विचार तथा प्रमाणों द्वारा यही सिद्ध हुआ कि इहलोकमें सुखशान्ति, चिरजीवन, सकल प्रकारकी उन्नति, परलोकमें देवताओंसे सम्बन्ध, पितरोंकी सम्वर्द्धना तथा आध्यात्मिक उन्नति द्वारा ब्रह्मराज्यमें अग्रसर होनेके लिये वर्णधर्मका अस्तित्व और परिपालन आर्यजातिके लिये सदा सर्वथा कर्त्तव्य है।

आश्रमधर्म्म।

(४)

वर्णधर्मकी तरह आश्रमधर्म भी विशेष धर्मके अन्तर्गत है। क्योंकि इसमें पात्र तथा अधिकारके भेदानुसार भिन्न भिन्न प्रकारके धर्म बताये गये हैं। आजकल वैषयिक भावके बढ़ जानेसे तथा देशकालके भिन्नरूप हो जानेसे महर्षियोंके द्वारा विहित चतुराश्रम-

धर्मको ठीक ठीक पालन करना बहुत ही कठिन हो गया है। तथापि यथाशक्ति इनके पालन द्वारा भी कल्याण होता है। मनुजीने कहा है किः—

प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला।

मनुष्योंकी प्रवृत्ति ही विषयोंकी ओर है परन्तु निवृत्ति महाफलप्रदायिनी है। पहले ही कहा गया है कि मनुष्ययोनिमें आकर स्वतन्त्रता और अहङ्कारके बढ़ जानेसे इन्द्रियलालसा और भोगप्रवृत्ति बहुत बढ़ जाती है। इसी प्रवृत्तिको धीरे धीरे घटाकर मोक्षफलप्रद निवृत्तिमार्गकी ओर लेजाना ही मनुष्यका परम कर्त्तव्य है। आश्रमधर्म इसी कर्त्तव्यके उपायोंको बताता है। ब्रह्मचर्य आश्रममें धर्ममूलक प्रवृत्तिके लिये शिक्षालाभ होता है, गार्हस्थ्यमें धर्ममूलक प्रवृत्तिकी चरितार्थता होती है, वानप्रस्थ आश्रममें निवृत्तिमार्गके लिये शिक्षालाभ होता है और संन्यास आश्रममें निवृत्तिकी पूर्ण चरितार्थता होती है। पूर्वकर्म बलवान् होनेसे ब्रह्मचर्य्यसे ही संन्यास ग्रहण किया जा सकता है, अन्यथा साधारण रीति तो यह है कि प्रवृत्तिमार्गसे ही धीरे धीरे निवृत्तिमार्गमें जाया जाय। अब नीचे शास्त्रोक्त चारों आश्रमोंका कर्त्तव्य संक्षेपसे बताया जाता है।

(ब्रह्मचर्य्याश्रम)

प्रथम आश्रमका नाम ब्रह्मचर्याश्रम है। द्विज पिताका कर्त्तव्य है कि यथासमय पुत्रका उपनयन करके उससे पूर्ण ब्रह्मचर्य्यका पालन करावे। उपनयम कालके विषयमें मनुजीने कहा है किः—

गर्भाऽष्टमेऽब्दे कुर्व्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥
ब्रह्मवर्च्चसकामस्य कार्य्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहाऽर्थिनोऽष्टमे॥

गर्भसे अष्टम वर्षमें ब्राह्मणका उपनयन होना चाहिये, एकादश वर्षमें क्षत्रियका और द्वादश वर्षमें वैश्यका उपनयन होना चाहिये।

यदि यह इच्छा हो कि ब्राह्मणमें ब्रह्मतेज उत्पन्न हो, क्षत्रियको बल प्राप्त हो और वैश्यको धन प्राप्त हो तो यथाक्रम पांच, छः और आठ वर्षमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यका उपनयन होना चाहिये। वेष, दण्ड, वसन, मेखला आदि धारण कराकर गुरुके आश्रममें बालकको भेजना चाहिये या और तरहसे ब्रह्मचर्य्य व्रत पालन कराना चाहिये।

ब्रह्मचर्य्य व्रत पालनके लिये जितने कर्त्तव्य शास्त्रोंमें बताये गये हैं उन सबको तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। यथा—वीर्य्य-धारण, गुरुसेवा और विद्याभ्यास।

नैष्ठिक ब्रह्मचर्य्यका संयम, गृहस्थाश्रमकी धार्म्मिक प्रवृत्ति, वानप्रस्थाश्रमकी तपस्या और संन्यासाश्रमका ब्रह्मज्ञान सभी ब्रह्मचर्या-श्रमकी वीर्य्यरक्षा पर निर्भर करते हैं। मनुसंहितामें लिखा है किः—

सेवेतेमाँस्तु नियमान्ब्रह्मचारी गुरौ वसन्।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मनः॥
वर्ज्जयेन्मधुमांसञ्च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्व्वाणि प्राणिनाञ्चैव हिंसनम्॥
अभ्यङ्गमञ्जनञ्चाऽक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधञ्च लोभञ्च नर्त्तनं गीतवादनम्॥
द्यूतञ्च जनवादञ्च परीवादं तथाऽनृतम्।
स्त्रीणाञ्च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥
एकः शयीत सर्व्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित्।
कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः॥
स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः।
स्नात्वाऽर्कमर्च्चयित्वा त्रिः पुनर्म्मामित्यृचं जपेत्॥

ब्रह्मचारी गुरु आश्रममें वास करनेके समय इन्द्रियसंयम करके तपोबल बढ़ानेके लिये नीचे लिखे हुए नियमोंको पालन करें। उनको मधु, मांस, गन्धद्रव्य, माल्य तथा रस आदिका सेवन और स्त्रीसम्बन्ध त्याग करना चाहिये। जो वस्तु स्वभावतः मधुर है परन्तु किसी कारणसे अम्ल हो गया है, इस प्रकारकी वस्तु ब्रह्म-

चारी कदापि सेवन न करे और किसी जीवकी हिंसा न करे। तैलमर्द्दन, आंखोंमें अञ्जन, पादुका तथा छत्रधारण, काम, क्रोध, लोभ, नृत्य, गीत, वाद्य, अक्षक्रीडा, मनुष्योंके साथ वृथा वाक्कलह या दोषदर्शन, मिथ्यावचन, स्त्रियोंके प्रति कटाक्ष या आलिङ्गन, दूसरोंका अपकार, ये सभी ब्रह्मचारीके लिये त्याज्य हैं। ब्रह्मचारी एकाकी शयन करे, कभी रेतःपात न करे, इच्छासे रेतःपात करने पर ब्रह्मचारीका व्रतभङ्ग हो जाता है, यदि इच्छा न होने पर भी कभी स्वप्नमें शुक्रनाश होजाय, तो स्नान तथा सूर्य्यदेवकी पूजा करके तीन वार "पुनर्मामेत्विन्द्रियम्" अर्थात् मेरा वीर्य्य मेरेमें पुनः लौट आवे, इस प्रकारका वेदमन्त्र पढ़ना चाहिये। यही सब ब्रह्मचर्य्यरक्षाकी विधि है।

संसारमें देखा जाता है कि प्रत्येक वस्तुमें प्रधानतः आधिभौतिक या आधिदैविक या आध्यात्मिक उन्नति करनेकी शक्ति विद्यमान है; परन्तु यदि किसी वस्तुमें एकाधारमें ही तीनों प्रकारकी उन्नति करनेकी शक्ति है, तो यही कहना पड़ेगा कि वह परम वस्तु ब्रह्मचर्य्य ही है। अब ब्रह्मचर्य्यके द्वारा आध्यात्मिकादि त्रिविध उन्नति कैसे होती है सो बताया जाता है।

मुण्डकोपनिषद्में लिखा है किः—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा।
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्य्येण नित्यम्॥

सत्य, तपस्या, ज्ञान और ब्रह्मचर्य्यके द्वारा आत्माकी उपलब्धि होती है। ब्रह्मचर्य्य ज्ञानरूप प्रदीपके लिये स्नेहरूप है। इसीके द्वारा आध्यात्मिक उन्नति-साधन करता हुआ जीव परमात्माका लाभ कर सकता है। श्रीभगवान्ने गीताजीमें कहा है किः—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति,
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति,

तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥

वेदवित् ज्ञानिगण जिसको अक्षर पुरुष कहते हैं, वासनारहित यतिगण जिस परमपदको प्राप्त करते हैं, जिस परमपदकी इच्छासे साधकलोग ब्रह्मचर्य्य पालन करते हैं उसके विषयमें मैं संक्षेपसे कहता हूं । श्रीभगवान्ने इस श्लोकमें ब्रह्मचर्य्यके द्वारा आध्यात्मिक उन्नति और आत्माको उपलब्धि होती है ऐसा बताया है । जिस-शक्तिके द्वारा महर्षिलोग प्राचीन कालमें ब्रह्मज्ञानको प्राप्त करके दिग्दिगन्तमें उसकी छटाको फहराते थे, और जिस शक्तिके द्वारा उनके समाधिशुद्ध अन्तः करणमें वेदकी ज्योति प्रतिफलित हुआ करती थी वह शक्ति ऊद्र्ध्व-रेता महर्षियोंमें ब्रह्मचर्य्य-शक्ति ही है । उपनिषदोंमें लिखा है किः—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

बन्धाय विषयाऽऽसक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः ॥

मनुष्योंके बन्धन और मोक्षका कारण मन ही है । विषयासक्त मन बन्धनका और निर्विषय मन मोक्षका कारण है । योगशास्त्रका सिद्धान्त यह है कि मन, वायु और वीर्य्य तीनों एक सम्बन्धसे युक्त हैं । इनमेंसे एक भी वशीभूत हो तो और दो वशीभूत होजाते हैं । जिसका वीर्य्य वशीभूत ब्रह्मचर्य्यके द्वारा है उसका मन वशीभूत होता है और मनके वशीभूत होनेसे निर्विषय अन्तःकरणमें ब्रह्मज्ञानका स्फुरण होता है येही सब ब्रह्मचर्य्यके द्वारा आध्यात्मिक उन्नति होनेके प्रमाण हैं ।

इसी प्रकार ब्रह्मचर्य्यके द्वारा आधिदैविक उन्नति भी होती है । महर्षि पतञ्जलिजीने योगदर्शनमें लिखा है किः—

ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायां वीर्य्यलाभः ।

ब्रह्मचर्य्यकी प्रतिष्ठा होनेसे परमशक्ति प्राप्त होती है । योगदर्शन-के विभूतिपादमें जितने प्रकारकी सिद्धियोंका वर्णन है, यथा-सूर्य्यमें

संयमसे भुवनज्ञान और संस्कारोंमें संयमसे परिचित्तज्ञान आदि, ये सभी ब्रह्मचर्य्यके द्वारा दैवीशक्ति प्राप्त करनेका फल है। महर्षि लोग जो अष्टसिद्धि प्राप्त करके संसारमें सभी दैवी बातोंको कर दिखाते थे जिनकी शक्तियोंको स्मरण करनेसे दीन हीन भारतवासियोंके मृत-कङ्कालमें आज भी प्राणका सञ्चार होने लगता है और संसारमें जो बड़े बड़े कर्मवीर और धर्मवीर महापुरुष अपनी शक्तिके प्रतापसे अलौकिक कार्योंको कर गये एवं धर्म तथा देशका उद्धार किया यह सब ब्रह्मचर्य्यके द्वारा आधिदैविक शक्ति प्राप्त करनेका ही फल है।

तीसरी, ब्रह्मचर्य्यसे आधिभौतिक उन्नति होती है। शास्त्रोंमें कहा है किः—

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।

स्थूलशरीरकी रक्षा किये बिना मनुष्य किसी प्रकारकी उन्नति नहीं कर सकता है। मानसिक उन्नति या आध्यात्मिक उन्नति सभी शारीरिक स्वास्थ्यके ऊपर निर्भर करती है। शरीरमें सबसे उत्तम धातु वीर्य है जिसकी रक्षासे स्वास्थ्यकी रक्षा हुआ करती है। चिकित्साशास्त्र-का यह सिद्धान्त है कि भुक्त अन्न पाकस्थलीमें जाकर पहले रस बनता है, रससे रक्त, रक्तसे मांस, मांससे मेद, मेदसे अस्थि, अस्थि-से मज्जा और मज्जासे वीर्य बनता है। इस प्रकार अन्नके रससे एक महीनेमें वीर्य बनता है और ४० चालीस बिन्दु रक्तसे एक बिन्दु वीर्य्य होता है। इसीसे समझ सकते हैं कि शरीरकी रक्षाके लिये वीर्य्यका कितना प्राधान्य है। वीर्य्य ही समस्त शरीरका प्राणरूप है। वीर्य्यके स्तम्भनसे प्राणकी पुष्टि, समस्त शरीरमें कान्ति और मानसिक शान्ति रहती है। वीर्य्यके नाशसे प्राणनाश तथा सकल प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं।

शरीरके भीतर मनोवहा नामकी एक नाड़ी है जो कि मनुष्यके चित्तमें कामभाव होते ही दूधको मथन करके माखन निकालनेकी तरह शरीर और रक्तको मथन करके वीर्य्यको निकालती है। मनोवहा

नाड़ीके साथ शरीरकी सब नाड़ियोंका सम्बन्ध है, इसलिये शुक्रनाशके समय शरीरकी सब नाड़ियां कांप उठती हैं, शरीरके भीतर वज्राघात होनेसे जैसा कम्पन और आघात होता है वैसा होता है, शरीरके सब यन्त्र हिल जाते हैं जिसकी प्रतिक्रिया शरीर तथा मनपर इतनी होती है कि उस पाशविक क्रियाके अन्तमें शरीर और मन अति दीन, खिन्न, दुर्बल तथा मृतप्राय होकर दुःखके अनन्त समुद्रमें डूब जाता है। इसीलिये गीतामें लिखा है कि:—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

जो मनुष्य आजीवन काम और क्रोधके वेगको धारण कर सकता है वही योगी और सुखी है।

चिकित्साशास्त्रका सिद्धान्त है कि प्रत्येक मनुष्यके रक्तमें दो प्रकारके कीट रहते हैं, एक श्वेत (White corpuscle) और दूसरे लाल (Red corpuscle), इन दोनोंमेंसे श्वेत कीट रोगके कीटोंसे लड़ाई करके शरीरको रोगसे रक्षा करते हैं, क्योंकि हैजा, प्लेग, मलेरिया आदि सब रोगोंके कीट होते हैं जोकि शरीरपर आक्रमण करके उसे नष्ट करते हैं। अब यह बात निश्चय है कि रक्तको मथन करके वीर्य्यके निकल जानेसे रक्त निःसार हो जायगा जिससे वे सब रक्तके कीट भी दुर्ब्बल हो जायंगे। अतः उनमें रोगके कीटोंके साथ लड़ाई करके शरीरकी रक्षा करनेकी शक्ति नहीं रहेगी। इसका फल यह होगा कि शरीर बहुत प्रकारके रोगोंसे आक्रान्त हो जायगा, शारीरिक अरोग्यता नष्ट होजायगी और मनुष्य जीता ही मुर्देकी तरह बना रहेगा। यही सब शुक्रनाशका फल है।

जिस प्राणके साथ शरीरका इतना सम्बन्ध है कि उसके अभावसे शरीर मृत हो जाता है, वीर्य्यके नाशसे उस प्राणशक्तिका भी नाश होने लगता है जिससे मनुष्य अल्पायु तथा चिर रोगी होजाते हैं। योगशास्त्रमें श्वास प्रश्वास पर संयम करके लिखा गया है कि मनु-

क्योंकी नियमित आयुके लिये नियमित श्वासकी भी आवश्यकता होती है। साधारण अवस्थामें सारे दिन और रातके बीचमें प्रत्येक मनुष्यके श्वास २१६०० इक्कीस हजार छः सौ वार निकलते हैं। योगकी शक्तिसे इस श्वाससंख्याको घटानेसे आयु बढ़ती है। योगी लोग इसी प्रकारसे दीर्घायु होते हैं। और भी योगशास्त्रमें लिखा है किः—

देहाद्बहिर्गतो वायुः स्वभावाद्द्वादशाङ्गुलिः ।
भोजने षोडशाङ्गुल्यो गायने विंशतिस्तथा ॥
चतुर्विंशाङ्गुलिः पान्थे निद्रायां त्रिंशदङ्गुलिः ।
मैथुने षट्त्रिंशदुक्तं व्यायामे च ततोऽधिकम् ॥
स्वभावेऽस्य गते न्यूने परमायुः प्रवर्द्धते ।
आयुःक्षयोऽधिके प्रोक्तो मारुते चाऽन्तराद्गते ॥
तस्मात्प्राणे स्थिते देहे मरणं नैव जायते ॥

जो दिवारात्रमें २१६०० इक्कीस हजार छः सौवार श्वास निकलता है उसी हिसाबसे निकला करे तो प्रत्येक श्वासका वायु १२ बारह अङ्गुलि तक नासिकासे बाहर जायगा। यही स्वाभाविकरूपसे निकलते हुए श्वासकी पहुंच है। यही श्वास भोजन करते समय १६ सोलह अङ्गुलि, गान करते समय २० बीस अङ्गुलि, रास्ते चलते समय २४ चौबीस अङ्गुलि, निद्रा लेते समय ३० तीस अङ्गुलि. मैथुनके समय ३६ छत्तीस अङ्गुलि और व्यायाममें उससे भी अधिक दूर तक पहुंचता है। श्वासकी इस स्वाभाविक गतिको रोककर घटानेसे आयु बढ़ती है और भीतरसे अधिक दूरतक श्वास जानेसे आयुः क्षय होता है। व्यायाममें श्वास अधिक निकलनेपर भी व्यायामकी ख़ास प्रतिक्रियासे शरीर सबल तथा नीरोग रहता है, परन्तु इससे आयुकी वृद्धि नहीं होती है। प्राणायाम करनेपर शरीर सबल तथा नीरोग रहता है और आयु भी बढ़ती है। इसीलिये शास्त्रमें कहा है किः—

प्राणायामः परं बलम् ।

प्राणायाम परम बल है। इस तरहसे प्राणायामकी स्तुति और

उसके करनेकी आज्ञा की गई है। परन्तु मैथुनमें व्यायामका कोई फल नहीं होता है, उल्टा श्वास ३६ छत्तीस अङ्गुलि तथा अधिक निकलनेसे विशेषरूपसे आयुःक्षय होता है। स्वाभाविक श्वास जो कि १२ बारह अङ्गुलि है उससे तीन गुना अधिक जोरसे श्वास निकलनेपर मनुष्य बहुत ही अल्पायु हो जाता है और प्राणरूप वीर्य्यके निकलनेसे अत्यन्त दुर्ब्बल तथा रुग्णदेह हो जाता है। यही सब ब्रह्मचर्य्यनाशका विषमय फल है। इसीलिये योगशास्त्रमें कहा है कि:—

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।

वीर्य्यनाशसे मनुष्यकी मृत्यु और वीर्य्यधारणसे मनुष्यका जीवन है। शरीरके समस्त यन्त्रोंमेंसे स्नायु, पाकस्थली, हृदय और मास्तिष्क ये चार यन्त्र मुख्य हैं। वीर्य्यनाशसे इन चारों यन्त्रोंपर कठिन आघात पहुंचता है। कामका तुच्छ सुख केवल इन्द्रियके स्नायुओंके चाञ्चल्यसे ही होता है परन्तु पुनः पुनः चञ्चल करनेसे वे सब नसें दुर्बल हो जाती हैं और साथ ही साथ समस्त शरीरके स्नायुओंमें आघात होनेसे वे सब भी दुर्बल हो जाते हैं। फल यह होता है कि स्नायुओंके दुर्बल होनेसे उनमें वीर्य्यधारण करनेकी शक्ति नहीं रहती है जिससे सामान्य कामसङ्कल्प तथा चाञ्चल्यसे ही वीर्य्य नष्ट होने लगता है और धातुदौर्बल्य, प्रमेह, स्वप्नमेह, मधुमेह आदि कठिन कठिन रोग हो जाते हैं। शरीरके स्नायुओंपर धक्का अधिक लगनेसे पक्षाघात, ग्रन्थिवात, अपस्मार (मृगी) आदि भीषण रोगोंकी उत्पत्ति होती है। केवल इतना ही नहीं, जिस विषयसुखके लिये विषयी लोग ब्रह्मानन्दका भी तुच्छ समझते हैं उस विषय सुखको भी ब्रह्मचर्य्यके नहीं पालनेसे वे पूरा भोग नहीं सकते हैं, क्योंकि धातुदौर्ब्बल्य, वीर्यतारल्य या स्नायविक दौर्ब्बल्य होनेसे वीर्य्यधारणकी शक्ति नष्ट होजाती है और सामान्य कामसङ्कल्प तथा स्त्रीके देखने मात्रसे ही वीर्य्यनाश होने लगता है

इस कारण विषयसुख तथा गार्हस्थ्य सुख भी उन्हें पूरा नहीं मिलना है। उनकी स्त्रियां अतृप्ता रहनेसे उनमें व्यभिचारिणी होनेकी सम्भावना रहती है जिससे कुल नष्ट, वर्णसङ्कर सृष्टि तथा पितरोंका पिण्डनाश होता है और संसारमें दारिद्रय, दुर्भिक्ष तथा हजारों प्रकारकी अशान्ति फैलती है। द्वितीयतः, अपानवायुके साथ प्राणवायुका और प्राणवायुके साथ वीर्य्यका सम्बन्ध रहनेसे अपानवायुके साथ भी वीर्य्यका सम्बन्ध है और अपानवायुके साथ पाकयन्त्र, पायु और उपस्थयन्त्रका सम्बन्ध है। अपानके ठीक रहनेसे अन्नका परिपाक भी ठीक ठीक होता है जिससे अजीर्णका रोग नहीं होता है। परन्तु वीर्य्यके नाश या चाञ्चल्यसे जब अपानकी क्रियामें भी दोष होजाता है तब पेटमें अन्न नहीं पचता है, अजीर्ण रोगसे शरीर आक्रान्त होजाता है, आज अम्लरोग हुआ, कल पेट फूल गया, परसों डकार आता है, अम्लशूल, हैजा, ग्रहणी, उदरामय मन्दाग्नि आदि कितनी ही बीमारियां शरीरको ग्रास कर लेनी हैं और संसारमें ऐसा कोई रोग नहीं है जो कि अजीर्णरोगके परिणामसे नहीं होसकता है। बहुमूत्र, शिरोरोग, धातुरोग, दृष्टिहीनता, रक्तविकार, अर्श आदि सभी रोग अजीर्णरोगके परिणामसे होते हैं और मनुष्यके जीवनको भारभूत तथा अशान्तिमय कर देते हैं। अपानवायुके दूषित होनेसे पायुयन्त्रके भी सब रोग होजाते हैं। यथा-समयपर शौच न होना, अधिक दस्त होना, दस्त बन्द होजाना, पेटमें आम होना आदि बहुत रोग होजाते हैं। जिस उष्णताके रहनेसे पेटमें अन्न पचता है, वीर्य्यनाशसे वह उष्णता नष्ट होजाती है जिससे पित्तप्रकृति नष्ट होकर कफप्रकृति होती है और पित्त दुर्ब्बल होनेसे अजीर्ण होता है। तृतीयतः, वीर्य्यके निकलते समय कलेजेमें धक्का बहुत लगता है, क्योंकि जब हृदय ही रक्तका मूलस्थान है तो जितनी वार दुग्धके सारभूत मक्खनकी तरह रक्तका सारभूत वीर्य्य नष्ट होगा उतनी ही वार दुर्ब्बल रक्तको

पुष्ट करनेके लिये हृद्यन्त्रसे रक्तका प्रवाह होगा जिसका फल यह होगा कि हृद्यन्त्रपर चोट लगेगी जिससे क्षय, कास, यक्ष्मा आदि कठिन रोग उत्पन्न होकर अकाल मृत्युके ग्रासमें मनुष्यको डाल देंगे। और चतुर्थतः, वीर्य्यनाशसे मस्तिष्कपर बहुत ही धक्का लगता है। शरीरका सर्व्वोत्तम अङ्ग मस्तिष्क है, उसमें शरीरके सारभूत पदार्थ भरे रहते हैं। और समस्त स्नायुओंका केन्द्रस्थान भी मस्तिष्क ही है, इसलिये वीर्य्यके नाशसे मस्तिष्क निस्सार तथा दुर्ब्बल होजाता है जिससे स्मृति, बुद्धि, प्रतिभा सभी नष्ट होने लगती है, मनुष्य सामान्य मस्तिष्कके परिश्रमसे ही थक जाता है, सिर घूमने लगता है, आध्यात्मिक विषयोंपर विचार नहीं कर सकता है, बहुत देरतक किसी बातको चित्त लगाकर सोच नहीं सकता है, दिनभर या सन्ध्याके समय सिरमें दर्द होने लगता है, कोई बात बहुत देरतक स्मरण नहीं रहती है, थोड़ी थोड़ी बातमें ही घबराहट होने लगती है, धैर्य्य सम्पूर्ण नष्ट हो जाता है, प्रकृति रूसी क्रोधी तथा भीरु हो जाती है और अन्तमें उन्मादरोग तक हो जाता है। पागल-खानोंमें जितने उन्मादी देखे जाते हैं, अनुसन्धान करनेपर कई वार पता लगा है कि उनमेंसे फी सैकड़ा नब्बे व्यभिचार द्वारा वीर्य्य-हीन होकर पागल बन गये हैं। मस्तिष्क सब स्नायुओंका केन्द्र-स्थान होनेसे मस्तिष्कके दुर्ब्बल होनेपर स्नायु भी दुर्ब्बल हो जाते हैं, जिससे सब इन्द्रियोंमें दुर्ब्बलता होती है। क्योंकि प्रत्येक स्थूल इन्द्रियका जो मस्तिष्कसे स्नायुओंके द्वारा सम्बन्ध है उसीसे इन्द्रि-योंका कार्य्य ठीक ठीक चलता है इसलिये मस्तिष्क जब दुर्ब्बल होता है तब इन्द्रियोंका कार्य्य भी बिगड़ जाता है। आंखमें कानमें सबमें कमजोरी आने लगती है यही सब वीर्य्यनाशका फल है।

वीर्य्यमें तैजसपदार्थ अधिक है जिससे प्राणशक्ति, शारीरिक उत्ताप और आंखके तेजका सम्बन्ध है, इसलिये वीर्य्यके नष्ट होनेसे तीनोंकी शक्ति घट जाती है। प्राणशक्तिके घट जानेसे शरीर तथा मुखच्छबि

तेज, कान्ति और श्री हीन हो जाती है, समस्त शरीर फीका तथा मुर्देके शरीरकी तरह दीखने लगता है, आँखें बैठ जाती हैं, मुंह बैठ जाता है, शरीर कृश होजाता है, भीतरसे दुर्ब्बलता बहुत मालूम होती है, शब्द और मन्त्रोच्चारणकी शक्ति घट जाती है और गला बैठ जानेसे स्वरभङ्ग हो जाता है। शारीरिक उत्ताप घट जानेसे पेटमें परिपाक-शक्ति घट जाती है और आबहवाका परिवर्त्तन थोड़ा भी सहन नहीं होता है, हर समय सर्दी लगने लगती है, थोड़ीही ठण्डसे जुकाम हो जाता है, ऋतुओंके परिवर्त्तनके समय प्रायः रोग हो जाता है और देशमें रोगोंके फैलनेके समय सबसे पहले ऐसा मनुष्य बीमार पड़ता है। आँखका तेज कम होनेसे यौवनके पहले ही चश्मा लेनेकी आवश्यकता होती है जो कि आजकलके युवकोंमें प्रायः देखनेमें आता है। वीर्य्यके दुर्बल होनेसे उसमें सन्तानोत्पादन करनेकी शक्ति नहीं रहती है जिससे स्त्री वन्ध्या और पुरुष सन्तानहीन रहते हैं, अथवा रजसे वीर्य्यके दुर्बल होनेके कारण कन्या उत्पन्न होती है, पुत्र नहीं उत्पन्न होते या कम होते हैं और कभी होते हैं तो दुर्ब्बल तथा रोगी पुत्र उत्पन्न होते हैं और अल्पायु पुत्र उत्पन्न होते हैं। बहुतोंमें बालकपनमें वीर्य्यनाशसे नपुंसकता हो जाती है। इन सब पापोंसे कुलनाश तथा पितृपुरुषोंका अधःपतन होता है। सर्वोपरि वीर्य्यके साथ मनका अति घनिष्ठ सम्बन्ध रहनेसे वीर्य्यनाशके साथही साथ मन भी बहुत दुर्बल हो जाता है जिससे मनुष्यका मनुष्यत्व, पुरुषार्थ-शक्ति, स्वाधीनचित्तता, दृढ़प्रतिज्ञा, अध्यवसाय, जातीयता, आध्यात्मिक उन्नति, जितेन्द्रियता सभी नष्ट होजाते हैं। दुर्ब्बलचित्त मनुष्य इच्छा करनेपर भी संयम नहीं कर सकता है, इन्द्रियोंका दास होकर स्त्रीका भी दास हो जाता है। विषयभोगमें जो जो दुःख है उन सबको जानकर छोड़नेकी इच्छा करनेपर भी चित्तकी दुर्ब्बलताके कारण छोड़ नहीं सकता है और विषयोंके सामने न रहनेपर उनको छोड़नेकी हजारों प्रतिज्ञा करनेपर भी विषयोंके सामने

आनेसे ही सम्पूर्णरूपसे उनके वशीभूत हो पड़ता है, सभी प्रतिज्ञाएँ धरी रह जाती हैं। इस प्रकार ब्रह्मचर्य्यनाशसे मनुष्यका मनुष्यत्व लोप तथा जीवन भारभूत हो जाता है। आज जो भारतवर्षमें सच्चे ब्राह्मण और सच्चे क्षत्रिय आदि विरले ही मिलते हैं, ब्राह्मणोंकी वह शक्ति और क्षत्रियोंका वह तेज कुछ भी नहीं है, जो ऋषि पहले अमोघ वीर्य्य होते थे उनके पुत्र आज निर्व्वीर्य्य हो रहे हैं, आर्य्यसन्तान आज तेजोहीन होकर भारतमाताके मुखपर कलङ्क आरोपण कर रही है, ऋषियोंके दिव्यनेत्र और ज्ञाननेत्र सब नष्ट होकर आज उपनेत्रके विना देखा नहीं जाता है, हमारा शरीर और मन श्मशानके दृश्यको स्मरण करा रहा है, वेदके मन्त्रोंको देखना और शुद्ध उच्चारण करना दूर रहा वेदके अर्थपर भी हजारों लड़ाइयां चलपड़ी हैं, तपस्याके फलरूपसे ज्ञान-अर्जन करके ब्रह्मका साक्षात्कार दूर रहा आज अज्ञान-की घनघोरघटा भारत-आकाशको आच्छन्न कर रही है, ये सब दुर्भाग्य और दुर्दशाएँ आर्य्यजातिमें ब्रह्मचर्य्यहीनताका ही फलरूप हैं। इसलिये ब्रह्मचर्य्य आश्रमकी पुनः प्रतिष्ठा करके द्विजबालकोंको उपनयन संस्कारके बाद अवश्य ही ब्रह्मचर्य्यव्रत पालन कराना चाहिये जिससे उनका समस्त जीवन शान्ति सुखमय और देश तथा धर्म्मके लिये कल्याणकर हो जाय।

ब्रह्मचर्य्यपालनके विषयमें दक्षसंहितामें लिखा है किः—

ब्रह्मचर्य्यं सदा रक्षेदष्टधा मैथुनं पृथक्।
स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्॥
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः॥

स्मरण, कीर्त्तन, केलि, दर्शन, गुप्तबात, सङ्कल्प, चेष्टा और क्रिया-समाप्ति, येही मैथुनके आठ अङ्ग हैं, इनसे विपरीत ब्रह्मचर्य्य है जोकि सदा पालन करने योग्य है। इसके पूरे पालनके लिये शरीर, मन तथा बुद्धि तीनोंको ही संयत रखना ब्रह्मचारीका कर्त्तव्य है। इस विषयमें

मनुजोकी आज्ञा पहले ही बतायी गयी है। प्रथम—शरीरको संयत रखनेके लिये अन्यान्य उपायोंके अतिरिक्त खानपानका भी विचार अवश्य रखना चाहिये। श्रीभगवान्‌ने गीताजीमें त्रिविध आहारके विषयमें कहा है कि:—

आयु:सत्त्वबलाऽऽरोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः।
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकाऽऽमयप्रदाः॥
यातयामं गतरसं पूति पर्य्युषितञ्च यत्।
उच्छिष्टमपि चाऽमेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥

आयु, प्राणशक्ति, बल, आरोग्य, सुख तथा प्रीतिका बढ़ानेवाला, सरस, स्निग्ध, सारयुक्त और चित्तको सन्तोष देनेवाला आहार सात्त्विक मनुष्यका प्रिय है। जिससे दुःख, शोक तथा रोग हो इस प्रकारका कटु,अम्ल,लवण, अतिउष्ण, तीक्ष्ण,रूक्ष तथा शरीरमें ज्वलन उत्पन्न करनेवाला आहार राजसिक लोगोंका प्रिय है। और कच्चा, रसहीन, दुर्गन्धयुक्त, बासी, उच्छिष्ट तथा अभक्ष्य आहार तामसिक लोगोंका प्रिय है। ब्रह्मचारीको सात्विक आहार करना चाहिये। प्याज, लशुन, लालमिरच, खटाई आदि राजसिक तामसिक पदार्थ हैं। गरिष्ठ मसालेदार अन्न और उत्तेजक अन्न ब्रह्मचारीको कभी नहीं खाना चाहिये। तमाखू, भांग आदि मादक द्रव्योंका सेवन कदापि नहीं होना चाहिये। कोमल शैय्या जैसा कि पलङ्ग आदिपर नहीं सोना चाहिये। भूमिशय्यापर सोना चाहिये। कुपुस्तक पढ़ना, कुसङ्ग, कुचिन्ता, कुचित्र देखना और परस्परमें कामविषयक बातचीत करना कभी नहीं चाहिये। एकाहार करना चाहिये अथवा रातको बहुत कम लघु पाक अन्न खाना चाहिये। प्रातःकाल निद्रा टूटनेपर फिर सोना, पान खाना, अधोअङ्गमें वृथा हाथ लगाना दिनमें सोना, मछली या मांस खाना, प्रातःकाल तक सोते

रहना आदि ब्रह्मचारीके लिये निषिद्ध हैं। दूसरा—ब्राह्ममुहूर्त्तमें उठकर शौचादिसे निवृत्त हो प्रातःसंध्या और देवता ऋषि एवं पितरोंका तर्पण करना चाहिये । सन्ध्याके साथ साथ गुरुकी आज्ञानुसार कुछ कुछ पूजा, प्राणायाम तथा मुद्रा आदि भी करना चाहिये । प्राणायाम तथा मुद्राओंके करनेसे चित्त शान्त तथा एकाग्र होगा और स्नायु भी सतेज रहेंगे जिससे ब्रह्मचर्य्यकी रक्षा तथा शारीरिक नीरोगता रहेगी। पूजा करनेसे मानसिक उन्नति तथा भक्ति बढ़ेगी। मनको संयत करनेके लिये सदा ही ब्रह्मचारीको यत्न करना चाहिये । गीतामें लिखा है किः—

ध्यायतो विषयान् पुंसः
सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः ।

विषयकी चिन्ता करनेसे उसमें आसक्ति उत्पन्न होती है और आसक्तिसे काम उत्पन्न होता है। इसलिये ब्रह्मचारीको सर्व्वदा कामसङ्कल्पसे बचना चाहिये। कामजय करनेके लिये सीधा उपाय सङ्कल्प करना है । श्रीमद्भागवतमें कहा है किः—

असङ्कल्पाज्जयेत्कामम् ।

असङ्कल्पसे काम जय करना चाहिये। जभी कामका सङ्कल्प चित्तमें उदय हो उसी समय चित्तको उससे हटाकर और चिन्ता या शास्त्रपाठमें लगाना चाहिये । इसी प्रकार चित्तको काम-सङ्कल्प करनेका मौका न देनेका अभ्यास कुछ दिनोंतक करते रहनेसे अभ्यास बढ़नेपर कामसङ्कल्प करनेकी इच्छा घट जायगी जिससे चित्तकी उन्नति होगी। स्मरण रहे, केवल अभ्याससे ही काम बढ़ता है और विषयेच्छा बढ़ती है । यह एक प्रकारके नशेकी तरह है । इस अभ्यासके घटानेसे और संयमका अभ्यास बढ़ानेसे कुछ दिनोंके बाद संयम करना ही अच्छा लगेगा, ब्रह्मचर्य्य धारण करनेमें आनन्दबोध होने लगेगा और नष्ट करनेमें दुःखबोध होगा और त्याग ही शान्तिकर

होने लगेगा। इसलिये शरीर तथा चित्तके साथ ब्रह्मचर्य्यव्रतका पालन करना चाहिये। तीसरा—ब्रह्मचर्य्यकी रक्षाके लिये बुद्धिकी भी सहायता लेनी चाहिये। बुद्धिके द्वारा विचार करके सत्यासत्यका निर्णय करना चाहिये। संसारमें त्यागका सात्त्विक सुख भोगके राजसिक सुखसे कितना उत्तम है, विषयसुखके अन्तमें किस प्रकार परिणामदुःख मनुष्यके चित्तको दुःखी करता है, इन्द्रियोंके साथ विषयका सम्बन्ध पहले मधुर होनेपर भी परिणाममें किस प्रकार अत्यन्त दुःख उत्पन्न करके सब सुखको मिट्टीमें मिला देता है और निवृत्तिका आनन्द किस प्रकार मनुष्यके लिये प्रवृत्तिसे उत्तम और नित्यानन्दमय है, इन बातोंका विचार सदा ही ब्रह्मचारीको हृदयमें धारण करके अपने व्रतके पालनमें पूर्ण होना चाहिये। महाभारतमें लिखा है किः—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्
तृष्णाऽक्षयसुखस्यैते नाऽर्हतः षोडशीं कलाम् ॥

संसारमें जो कामसुख या स्वर्गमें जो महान् दिव्यसुख है, ये कोई भी सुख वासना-नाश-सुखके षोडशांशमेंसे एक अंश भी सुख देनेवाले नहीं हैं। श्रीभगवान्ने गीतामें आज्ञा की है किः—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यंतवंतः कौन्तेय ! न तेषु रमते बुधः ॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥

विषयके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध होनेसे जो कुछ सुख होता है वह दुःखका ही उत्पन्न करनेवाला है। विषयसुख आदि अन्तसे युक्त है अतः विचारवान् पुरुषको कभी विषयसुखमें फंसना नहीं चाहिये। जो मनुष्य यावज्जीवन काम और क्रोधके वेगको धारण कर सकता है वही योगी और वही सच्चा सुखी है। श्रीभग-

वान्की इस आज्ञाको हृदयमें धारण करके ब्रह्मचारीको सदा ही संयत होना चाहिये।

वीर्य्यधारणकी उपकारिताके विषयमें जो कुछ बातें ऊपर लिखी गई हैं इससे गृहस्थ लोग यह न समझें कि वीर्य्यरक्षा केवल ब्रह्मचर्य्य आश्रमके लिये ही है, गृहस्थाश्रमके लिये नहीं है। इस प्रकारकी धारणा मिथ्या है क्योंकि वीर्य्यनाशसे जितनी हानि बताई गई है वह मनुष्यकी सकल अवस्थामें ही घटती है। आजकल बहुत लोगोंकी यह धारणा हो गई है कि गृहस्थ होते ही अनर्गल विषयभोग करना चाहिये, इसमें कोई नियम या संयम नहीं है। यह सिद्धान्त मिथ्या है। संयम और नियमपूर्व्वक गृहस्थाश्रम न करनेसे वही दुर्दशा होगी जैसा कि पहले बताया गया है। गृहस्थाश्रमके लिये ऋतुकाल गमन आदि जो कुछ नियम है सो आगे बताया जायगा, उसीसे गृहस्थाश्रममें ब्रह्मचर्य्यरक्षा होगी, अन्यथा नहीं होगी।

ब्रह्मचर्य्याश्रमका दूसरा कर्त्तव्य गुरुसेवा है। श्रीभगवान्ने गीताजीमें ज्ञानप्राप्तिका उपाय बताया है किः—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

प्रणिपात जिज्ञासा और सेवाके द्वारा तत्त्वज्ञानी गुरुसे ज्ञान प्राप्त करना होता है।

यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्य्यधिगच्छति।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति॥

जिस प्रकार खनित्र (खोदनेका यंत्र) से खोदते रहनेपर जल मिलता है उसी प्रकार सेवाके द्वारा गुरुसे विद्या मिलती है।

प्रत्येक धर्म्मकी विधिके देश कालानुकूल होनेसे ही उससे सुफलकी प्राप्ति होती है इसलिये ब्रह्मचर्य्य आश्रममें प्राचीन आर्य्य-

जातीय वैदिक शिक्षाके साथ देशकालज्ञान और देशकालके अनुकूल शिक्षा भी अवश्य होनी चाहिये जिससे गृहस्थाश्रममें वृत्ति भी सुलभ हो और धर्म्म भी बना रहे। आजकल ब्रह्मचर्य्य आश्रमका पालन कम होगया है और जहां कुछ है भी वहां पर भी ठीक ठीक अध्यापनाकी कमी है। इसलिये शास्त्रानुकूल शिक्षा और ब्रह्मचर्य्य-रक्षा नहीं होती है। इसका सुधार होना चाहिये। ब्रह्मचर्य्याश्रमकी शिक्षा साधारण पाठशालाकी तरह नहीं होनी चाहिये, उसकी विशेषता और गौरव पर ध्यान रहना चाहिये। कलियुगमें गर्भा-धानादि संस्कार ठीक ठीक न होनेसे सन्तानका शरीर प्रायः कामज होता है इसलिये अनेक चेष्टा करने पर भी पूरी ब्रह्मचर्य्यरक्षा कठिन होगई है; तथापि जहाँ तक होसके इसमें सबको तत्पर होना चाहिये और यदि किसी कारणसे ब्रह्मचर्य्य आश्रममें शिक्षाकी सुबिधा न मिले और व्यावहारिक शिक्षालयमें ही प्रविष्ट होना पडे, तथापि उस दशामें भी जहां तक होसके ब्रह्मचर्य्यरक्षा, गुरुसेवा और व्याव-हारिक अर्थकरी विद्याके साथ शास्त्रीय शिक्षा भी प्राप्त करना चाहिये जिससे भविष्यत् जीवन धर्म्ममय, सुखमय और शान्तिमय हो। पिता माताका कर्त्तव्य है कि अपनी सन्तानको बालकपनमें पहले ही धार्म्मिक शिक्षा देकर पीछे व्यावहारिक शिक्षा देवें क्योंकि बाल्यावस्थामें धर्म्मका संस्कार चित्तपर जमजानेसे सन्तान भविष्यत् जीवनमें कभी नहीं बिगड़ सकेगी। ये सब बातें ध्यान देने योग्य हैं।

ब्रह्मचर्य्य दो प्रकारके हैं यथा—नैष्ठिक और उपकुर्व्वाण। नैष्ठिक ब्रह्मचारीके लिये गृहस्थाश्रमकी आज्ञा नहीं है, आजन्म ब्रह्मचर्य्य रखनेकी आज्ञा है। यदि शिष्यका अधिकार इस प्रकार उन्नत होवे तो गुरु उसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी बनावे। श्रुतिमें नैष्ठिक ब्रह्मचारीके लिये संन्यासकी आज्ञा लिखी है, यथा—जाबाल-श्रुतिमें:—

ब्रह्मचर्य्यं परिसमाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत्।
वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्य्यादेव प्रव्रजेद्
गृहाद्वा वनाद्वा। यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्।

ब्रह्मचर्य्य-आश्रम समाप्त करके गृही होवे। गृहस्थाश्रमके बाद वानप्रस्थ होवे। वानप्रस्थाश्रमके बाद संन्यास लेवे। अथवा ब्रह्मचर्य्याश्रमसे ही संन्यास आश्रम ग्रहण करे या गृहस्थ या वानप्रस्थ आश्रमसे संन्यास लेवे। वैराग्य उदय होनेसे ही संन्यास लेवे। इस प्रकारसे श्रुतिने वैराग्यवान् नैष्ठिक ब्रह्मचारीके लिये संन्यासकी आज्ञा दी है। इस प्रकारकी आज्ञा प्रारब्धवान् उत्तम अधिकारीके लिये है। जिसका इस प्रकारके नैष्ठिक ब्रह्मचर्य्यमें अधिकार नहीं है उसके लिये मनुजीने उपकुर्व्वाण ब्रह्मचर्य्यकी आज्ञा की है। ऐसे ब्रह्मचारीको गुरुके आश्रममें कुछ वर्षतक ब्रह्मचर्य्य धारणपूर्व्वक विद्याभ्यास करनेके बाद गृहस्थाश्रम ग्रहण करना चाहिये जिसका वर्णन नीचे किया जाता है।

(गृहस्थाश्रम)

पहले ही कहा गया है कि ब्रह्मचर्य्य-आश्रममें धर्म्ममूलक प्रवृत्तिकी शिक्षा और गृहस्थाश्रममें धर्म्ममूलक प्रवृत्तिकी चरितार्थता होती है। गृहस्थाश्रम प्रवृत्तिमें मुग्ध होकर बन्धन और अधोगति प्राप्त करनेके लिये नहीं है; परन्तु ब्रह्मचर्य्याश्रमसे ही जिनका एकाएक संन्यासाश्रममें अधिकार नहीं है उनको धर्म्ममूलक प्रवृत्तिमार्गके भीतरसे धीरे धीरे उन्नत करते हुए अन्तमें निवृत्तिमूलक संन्यास आश्रमके अधिकारी बनानेके लिये ही गृहस्थाश्रमका विधान किया गया है। इसलिये गृहस्थाश्रममें प्रत्येक कार्य्यकी विधि इस प्रकारकी होना चाहिये कि जिससे धर्म्ममूलक प्रवृत्तिकी चरितार्थतासे निवृत्तिमें रुचि हो, वासनाकी वृद्धि न होकर भावशुद्धिमूलक भोग द्वारा वासनाका क्षय हो और आध्यात्मिक मार्गमें उन्नतिलाभ हो। यही

गृहस्थाश्रमका मूल मन्त्र है। इसपर ध्यान रखकर प्रत्येक गृहस्थको अपनी जीवनचर्य्याका प्रतिपालन करना चाहिये। अब इसी भावको लक्ष्यमें रखते हुए गृहस्थाश्रमधर्म्मका निर्द्देश किया जाता है। मनुजीने आज्ञा की है कि:—

गुरुणाऽनुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि ।
उद्वहेत द्विजो भार्य्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥

गुरुकी आज्ञासे यथाविधि व्रतस्नान और समावर्त्तन करके द्विज सुलक्षणा सवर्णा कन्याका पाणिग्रहण करे। विवाहसंस्कार गृहस्थाश्रमका सर्व्वप्रधान संस्कार है। इसके तीन उद्देश्य हैं। अर्गल प्रवृत्तिका निरोध, पुत्रोत्पादन द्वारा प्रजातन्तुकी रक्षा और भगवत्प्रेमका अभ्यास।

मनुष्ययोनि प्राप्त करके जीवके स्वतन्त्र होनेसे इन्द्रियलालसा अत्यन्त बढ़ जाती है। प्रत्येक पुरुषके चित्तमें सभी स्त्रियोंके लिये और प्रत्येक स्त्रीके चित्तमें सभी पुरुषोंके लिये भोगभाव प्राकृतिकरूपसे विद्यमान है। उसीको संकोच करके एक पुरुष और एक स्त्रीके परस्परमें प्रवृत्तिको बांधकर धर्म्मके आश्रयसे और भावशुद्धिसे तथा बहुत प्रकारके नियमोंसे उस प्रवृत्तिको भी धीरे धीरे घटाकर अन्तमें महाफला निवृत्तिमें ही मनुष्यको लेजाना विवाहका प्रथम उद्देश्य है।

विवाहका दूसरा उद्देश्य प्रजोत्पत्ति द्वारा वंशरक्षा और पितृऋण शोध करना है। श्रुतिमें लिखा है कि:—

प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः ।

पितामह, पिता, पुत्र, पौत्र आदि परम्परासे प्रजाका सूत्र अटूट रखना चाहिये। मनुजीने कहा है कि:—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।
अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥

अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्राँश्चोत्पाद्य धर्म्मतः ।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥

ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पितृ-ऋण तीनों ऋणोंको शोध करके मोक्षमें चित्तको लगाना चाहिये। ऋणत्रयसे मुक्त न होकर मोक्षधर्म्मका आश्रय लेनेसे पतन होता है। स्वाध्याय द्वारा ऋषि-ऋण, पुत्रोत्पत्ति द्वारा पितृ-ऋण और यज्ञसाधन द्वारा देव-ऋण-से गृहस्थ मुक्त होते हैं। आकुमार ब्रह्मचारीके सब ऋण ज्ञानयज्ञ में लय होते हैं। उसको उक्त प्रकारसे ऋणत्रयसे मुक्त नहीं होना पड़ता है, परन्तु गृहस्थके लिये पितृ-ऋणादि शोध करनेके लिये पुत्रोत्पादनादि धर्म्म हैं। यही विवाहसंस्कारका दूसरा उद्देश्य है।

विवाहका तीसरा उद्देश्य भगवत्प्रेमके अभ्याससे आध्यात्मिक उन्नति करना है। जीवभाव स्वार्थमूलक है और ईश्वरभाव परार्थमूलक है। मनुष्य जितना ही स्वार्थका सङ्कोच करता हुआ परार्थताको बढ़ाता है उतना ही वह ईश्वरभाव और आध्यात्मिक उन्नतिको लाभ करता है। जिस कार्य्यके द्वारा इस प्रकार स्वार्थभावका सङ्कोच और परार्थभावकी पुष्टि हो वह धर्म्मकार्य्य और भगवत्कार्य्य है। विवाहसंस्कारके द्वारा मनुष्य इस परार्थभावकी शिक्षा प्राप्त करने लगता है क्योंकि पुरुषका जो स्वार्थ अपनेमें ही बद्ध था वह विस्तृत होकर पहले स्त्रीमें और पीछे पुत्र कन्या और समस्त परिवारमें बट जाता है, इससे परार्थभाव बढ़कर आध्यात्मिक मार्गमें उन्नति होती है। यही परार्थभाव अपने घरसे प्रारंभ होकर क्रमशः समाज, देश और समस्त संसारके साथ मिल जाता है, तभी जीव "वसुधैव कुटुम्बकम्" भावयुक्त होकर मुक्त हो जाते हैं। विवाहसंस्कारके द्वारा इस भावका प्रारम्भ होता है इसलिये यह प्रधान संस्कार है जिससे आध्यात्मिक उन्नति होती है। द्वितीयतः इसके द्वारा भगवत्प्रेमका अभ्यास होता है। सकल रसोंके मूलमें सच्चिदा-

नन्दका आनन्द रस ही भरा हुआ है। वही एक रस मायाके आवरणसे कहीं प्रेम, कहीं स्नेह, कहीं श्रद्धा, कहीं काम, कहीं मोह आदि नाना रसोंमें विभक्त होगया है। इन्हीं रसोंके प्रवाहकी गतिको मोडकर भगवान्की ओर लगानेसे ये हीं सब भगवत्प्रेमरूप हो जाते हैं। विवाह संस्कारके द्वारा इसी भगवत्प्रेमका अभ्यास होता है। पति पत्नी परस्पर प्रीति भावको पा करके परोक्षरूपसे भगवत्प्रेमकी ही शिक्षा लाभ करते हैं और परस्परमें अभ्यस्त प्रेमको धीरे धीरे भगवान्की ओर लगाकर आध्यात्मिक उन्नति और शुद्ध आनन्दको लाभ करते हैं। यही विवाहका तृतीय उद्देश्य है।

ऊपर लिखित विवाहके उद्देश्योंकी पूर्णताके लिये पाणिग्रहण बहुत विचारपूर्व्वक होना चाहिये। अन्यथा संसारमें अशान्ति, दाम्पत्यप्रेमका अभाव और निकृष्ट प्रजोत्पत्तिकी सम्भावना रहती है। अतः विवाह संस्कारके विषयमें नीचे लिखी हुई बातें ध्यान रखने योग्य हैं।

(१) परस्पर विभिन्नरूप और गुणवाले दम्पतिके मेलसे न दाम्पत्य प्रेम होता है और न अच्छी सन्तानोत्पत्ति होती है।

(२) स्त्री पुरुषमें प्रेमकी पूर्णता न होनेसे अच्छी सन्तान नहीं होती है।

(३) कन्याके सुलक्षणा न होनेसे संसारका अकल्याण होता है।

(४) पिता माताका शारीरिक और मानसिक दोष गुण और रोग सन्तानको स्पर्श करता है।

(५) वर कन्यामें एक भी अङ्गका दोष नहीं रहना चाहिये, उससे सन्तान खराब होती है। शारीरिक और मानसिक गुणोंके मेलसे सन्तान अच्छी होती है।

(६) कन्याकी वयः (उमर) पुरुषसे कम होनी चाहिये, नहीं तो पुरुषका पुरुषत्वनाश, कठिन रोग और अकाल मृत्यु होती है और सन्तान भी रोगी और दुर्ब्बल होती है।

जो कन्या माताकी सपिण्डा और पिताकी सगोत्रा नहीं है, वही

विवाहकार्य्य और संसर्गके लिये प्रशस्ता है। गो, छाग, मेष और धन धान्यसे समृद्धि-सम्पन्न होनेपर भी स्त्रीग्रहणके विषयमें दश कुल त्याज्य हैं। जिस कुलमें नीच क्रिया होती है, जिसमें पुरुष उत्पन्न नहीं होते हैं, जिसमें वेदाध्ययन नहीं है, जिसमें लोग बहुत रोमयुक्त हैं और जिस कुलमें अर्श, क्षय, मन्दाग्नि, अपस्मार, श्वित्र और कुष्ठ रोग हैं उस कुलमें विवाह सम्बन्ध नहीं करना चाहिये। जिस कन्याके केश पिङ्गल वर्ण हैं, छः अंगुलि आदि अधिक अङ्ग हैं, जो चिररुग्णा, रोमहीना या अधिक रोमवाली, अधिक वाचाल और जिसके चक्षु पिङ्गलवर्ण हैं, ऐसी कन्यासे विवाह नहीं करना चाहिये। जिसके किसी अङ्गमें विकार नहीं है, सौम्य नामवाली, हंस या गजकी तरह चलनेवाली, सूक्ष्म रोम केश और दन्तवाली और कोमलाङ्गी कन्यासे विवाह करना चाहिये। जिसका भ्राता नहीं है और पिताका वृत्तान्त भी ठीक नहीं मिलता है ऐसी कन्यासे पुत्रीप्रसव करनेकी और अधर्मकी आशङ्काके कारण विवाह नहीं करना चाहिये।

कन्याकी तरह वरके भी लक्षण देखना कन्याके पिता माताका आवश्यक कर्त्तव्य है। रूप, गुण, कुल, शील, स्वास्थ्य, विद्वत्ता, नीरोगता, सच्चरित्रता, ब्रह्मचर्य, मर्य्यादा, सुलक्षण, दीर्घायु, नम्रता, सत्याचार, आस्तिकता, धर्म-भीरुता आदि पुरुषके जितने गुण होने चाहिये उन सबोंको अवश्य ही कन्याके पिता माता देख लेवें।

विवाहके अनन्तर गृहस्थाश्रम प्रारम्भ होता है। उसमें पालन करने योग्य कर्त्तव्योंके विषयमें कुछ शास्त्रीय विषय उद्धृत किये जाते हैं।

कामसे उन्मत्त होनेपर भी रजोदर्शनके निषिद्ध चार दिन कदापि स्त्रीगमन नहीं करे और न स्त्रीके साथ सोवे। रजस्वला स्त्रीसे गमन करनेपर पुरुषके तेज, प्रज्ञा, बल, चक्षु और आयु सब ही नष्ट हो जाते हैं। स्त्रीके साथ भोजन न करे. जिस समय वह भोजन कर रही है उस दशामें उसको न देखे और छींकने, जँभाई लेनेके समय, यथासुख बैठनेके समय भी उसको न देखे।

एक वस्त्र पहनकर अन्न नहीं खाना चाहिये। विवस्त्र होकर स्नान नहीं करना चाहिये। रास्तेपर, भस्ममें या गोचारण स्थानमें मल मूत्र त्याग नहीं करना चाहिये। रातको वृक्षके नीचे नहीं रहना चाहिये। नग्न होकर नहीं सोना चाहिये। उच्छिष्टमुखसे चलना नहीं चाहिये। आर्द्रपाद होकर (पैर धोकर) भोजन करना चाहिये परन्तु आर्द्रपादसे शयन नहीं करना चाहिये। आर्द्रपाद होकर भोजन करनेसे दीर्घायु लाभ होता है।

दूसरेके धारण किये हुए जूते, वस्त्र, अलङ्कार, जनेऊ, माला और कमण्डलु धारण नहीं करने चाहिये। उदय होते हुए सूर्य्यका ताप, चिताका धूम और भग्न आसन, ये सब त्याज्य हैं। स्वयं नख और रोमका छेदन या दांतसे नख छेदन नहीं करना चाहिये। दोनों हाथोंसे सिर खुजलाना नहीं चाहिये। उच्छिष्टमुख होनेपर सिरको नहीं छूना चाहिये। सिर धोये विना स्नान नहीं करना चाहिये।

अमावास्या, अष्टमी, पूर्णिमा और चतुर्द्दशी, इन तिथियोंमें स्त्रीके ऋतुस्नाता होनेपर भी स्नातक द्विज कदापि स्त्रीगमन न करे। भोजनके बाद स्नान नहीं करना चाहिये। पीड़ित अवस्थामें, मध्यरात्रीमें, बहुत वस्त्र पहनकर अथवा अज्ञात जलाशयमें कभी स्नान नहीं करना चाहिये। शत्रुकी, शत्रुके सहायककी, अधार्मिककी, चोरकी और परस्त्रीकी सेवा नहीं करनी चाहिये। परस्त्रीगमन करनेसे जितना आयुःक्षय होता है उतना और किसीसे नहीं होता है।

सत्य और प्रिय वचन कहना चाहिये। अप्रिय सत्य नहीं कहना चाहिये। प्रिय होनेपर भी मिथ्या नहीं कहना चाहिये। यही सनातन धर्म है। गृहागत वृद्धोंको प्रमाण और आसन देना चाहिये। उनके सामने कृताञ्जलि हो बैठना चाहिये और उनके जानेके समय थोड़ी दूरतक पीछे पीछे जाना चाहिये।

आलस्य त्याग करके श्रुति स्मृतिके अनुकूल, अपने वर्णाश्रम धर्मद्वारा विहित और सकल धर्मोंके मूलस्वरूप सदाचारसमूहका

पालन करे। आचारपालनसे आयु, उत्तम सन्तति और यथेष्ट धन लाभ होता है और कुलक्षणोंका नाश होता है। दुराचारी पुरुष लोक-समाजमें निन्दित, सदा ही दुःखभागी, रोगी और अल्पायु होते हैं। सकल प्रकारके शुभ लक्षणोंसे हीन होनेपर भी आचारवान् श्रद्धालु और दोषदर्शनप्रवृत्तिरहित मनुष्य सौ वर्षतक जीवित रहते हैं।

सकल परिवार ही एक राज्यकी तरह है। जिस प्रकार राजाकी योग्यता और न्यायपरताके बलसे राज्यमें शान्ति रहती है उसी प्रकार परिवारकी भी शान्ति और उन्नति गृहकर्त्ता और गृहकर्त्रीकी न्याय-परता पर निर्भर रहती है। परिवारोंके बीचमें वैमस्य, लड़ाई और वाग्वितण्डा आदि अशान्तिकर विषय जिससे न होसकें इस विषयमें कर्त्ता और कर्त्रीको सदा ही सावधान रहना चाहिये और कभी हो भी जाय तो निष्पक्षविचारसे शीघ्र ही शान्त कर देना चाहिये। गृह-कार्य्य परिवारके स्त्री और पुरुषोंमें विभक्त करदेना, स्वयं सब कार्य्यों पर दृष्टि रखना, सबको मदद देना और उस कार्य्यविभागमें परि-वर्त्तन करना, यह सब गृहिणी और गृहस्वामीका कर्त्तव्य है। सुस्थ शरीर व्यक्तिमात्रको ही अर्थोपार्ज्जनकी चेष्टा करनी चाहिये। दूसरेके ऊपर अन्न और वस्त्रादिके लिये निर्भर करना ठीक नहीं है। इससे परिवारमें दरिद्रता और अशान्ति फैलती है। प्रत्येक गृहस्थका व्ययके अतिरिक्त सञ्चयकी ओर भी लक्ष्य रहना चाहिये। मित-व्ययी लोग ही मितसञ्चयी होसक्ते हैं। सञ्चयका लक्ष्य खर्चके पहले होना चाहिये, पीछे नहीं होना चाहिये। आय व्ययका हिसाब गृहस्थको अवश्य ही रखना चाहिये। आयके अनुसार ही व्ययसङ्कोच होना चाहिये। परिवाररूपी छोटा राज्य समाज-रूपी वृहद्राज्यके अन्तर्भुक्त है इसलिये समाजिक शान्ति और उन्नतिके साथ प्रत्येक परिवारकी शान्ति और उन्नतिका सम्बन्ध है। प्रत्येक गृहस्थका कर्त्तव्य है कि सामाजिक अनुशासनको मान कर चले, उसकी कदापि अवज्ञा न करे अधिकन्तु सामाजिक उन्नतिके

लिये अपना स्वार्थत्याग भी करे। प्रत्येक परिवार जबतक सामाजिक स्वार्थके लिये अपना स्वार्थसङ्कोच करना नहीं सीखता है तबतक समाजकी उन्नति नहीं होती है इसलिये समाजके साथ अङ्गाङ्गिभाव रखकर प्रत्येक गृहस्थको वर्त्तना चाहिये। ज्ञाति और कुटुम्बको अपने गौरवका अंशभागी करके उनसे सदा ही प्रेमके साथ मेल रखना चाहिये। प्रत्येक सार्व्वजनिक कार्य्यमें उनके परामर्श लेने चाहिये। उनकी उन्नतिसे ईर्ष्यालु न होकर अपनेको सुख और गौरवान्वित समझना चाहिये। कृत्रिम मैत्री और स्वजनता बढ़ाकर अपने गृहस्थाश्रमका केन्द्र धीरे धीरे बढ़ाना चाहिये। उनके स्त्री पुरुषोंको बीच बीचमें अपने घरमें सम्मानके साथ बुलाकर और उनके भी घरमें जाकर प्रीतिसम्बन्ध स्थापन करना चाहिये। समस्त संसारको अपना परिवार और कुटुम्ब समझकर अपने जीवनको संसारकी सेवामें उत्सर्ग कर देना गृहत्यागी चतुर्थाश्रमी संन्यासीका धर्म्म है। गृहस्थाश्रममें उस प्रकारकी कृत्रिम स्वजनताके द्वारा उस चतुर्थाश्रमके धर्म्मका प्रारम्भ होता है अतः प्रत्येक गृहस्थको उदारभावसे इसी प्रकारका बर्त्ताव आत्मीयजनोंसे करना चाहिये। अपनी उन्नतिके साथ साथ सन्तानोंकी उन्नति और सत्शिक्षाके लिये पिता माताको सदा ही सचेष्ट रहना चाहिये। स्मरण रहे कि पिता माता जिस संसारमें आदर्श चरित्र हैं उसमें सन्तान भी अच्छी होती है। गर्भाधान संस्कार ठीक ठीक शास्त्रानुकूल होनेसे धर्म्मपुत्र उत्पन्न होता है और कामज सन्तति नहीं होती है क्योंकि गर्भाधानके समय दम्पतिके चित्तका जैसा भाव होता है उसीके ही अनुरूप पुत्रका भी चित्त होता है। सात्त्विक भावसे उत्पन्न पुत्र सात्त्विक होता है। अत्यन्त पशुभावकेद्वारा उन्मत्त होकर सन्तान उत्पन्न करनेसे सन्तान भी तामसिक होती है। दुर्व्वलशरीर, दुर्व्वलचेता और कामुक पुत्र जो कि आजकल देखनेमें आते हैं इसका कारण गर्भाधानसंस्कारका बिगड़ जाना ही है। पिता

माताको इन बातोंका विचार अवश्य रहना चाहिये, नहीं तो दुष्ट सन्तान उत्पन्न होकर उन्हींको दुःख देगी और वंशमर्य्यादा नष्ट करेगी। शास्त्रमें लिखा है—

पूर्व्वजन्मार्ज्जिता विद्या पूर्व्वजन्मार्ज्जितं धनम् ।
पूर्व्वजन्मार्ज्जितं पुण्यमग्रे धावति धावति ॥

पूर्व्वजन्ममें अर्जित विद्या, धन और पुण्योंके संस्कारानुकूल ही इस जन्ममें उन वस्तुओंकी प्राप्ति होती है। इसलिये सन्तान उत्पन्न होनेके बाद उसको विद्या वही पढ़ानी चाहिये जिसका संस्कार सन्तानमें पूर्व्व जन्मसे है। आजकल कई माता पिता अपनी ही इच्छा तथा संस्कारके अनुसार पुत्रको शिक्षा देना चाहते हैं, ऐसा करना ठीक नहीं है। अवश्य, पुत्रका संस्कार पिता माताके संस्कारके अनुकूल ही बहुधा पाया जाता है, परन्तु सब विषयोंमें ऐसा नहीं भी होता। इस विषयपर लक्ष्य रखकर पुत्रकी शिक्षा, खास करके उसकी व्यावहारिक शिक्षा होनी चाहिये। उसका संस्कार जिस विद्या या विभागके सीखनेका हो उसे वही पढ़ाना चाहिये और साथही साथ आदर्शचरित्र तथा धार्म्मिक होकर पिता माताको पुत्रके लिये धार्मिक शिक्षाका प्रबन्ध करना चाहिये जिससे बालकपनसे उसके चित्तमें धर्म्मसंस्कार जम जाँय। ऐसा होनेपर भविष्यत्में सन्तान सच्चरित्र, धार्म्मिक, गुणवान् और विद्यावान् अवश्य होगी। यही गृहस्थाश्रमका धर्म्म संक्षेपसे बताया गया, इसके ठीक ठीक अनुष्ठानसे गृहस्थ देव, ऋषि और पितरोंके ऋणसे मुक्त होकर तृतीय अर्थात् वानप्रस्थाश्रमके अधिकारी अनायास ही हो सकते हैं।

(वानप्रस्थाश्रम)

अब वानप्रस्थाश्रमधर्म्मका वर्णन किया जाता है। शास्त्रोंमें लिखा है कि:—

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥
गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चाऽपत्यं तदाऽरण्यं समाश्रयेत् ॥
सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्व्वञ्चेव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्य्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥

इस प्रकारसे स्नातक द्विज गृहस्थाश्रम-धर्म्मको पालन करके यथाविधि जितेन्द्रिय होकर वानप्रस्थ-आश्रम ग्रहण करे। गृहस्थ जब देखे कि वार्द्धक्यका लक्षण होरहा है और पुत्रका पुत्र होगया हो उसी समय वानप्रस्थी होजाय। ग्रामके आहार और परिच्छद परित्याग करके और स्त्रीको पुत्रके पास रखकर अथवा स्त्रीके साथ ही वनमें जावे। ये सब आज्ञाएं मनुजीने की हैं। पहलेही कहा गया है कि प्रत्येक धर्मविधिके लक्ष्यको दृढ़ रखकर देश काल पात्रके अनुसार विधिका नियोजन होनेसे ही यथार्थ फल मिल सकता है। आज कल देशकाल इस प्रकार हो गया है कि प्राचीन रीतिके अनुसार वानप्रस्थाश्रमविधिका पालन करना बहुत ही कठिन है और पात्रके विषयमें भी बहुत कठिनता हो गई है; क्योंकि वानप्रस्थमें जिस प्रकार तपस्या या व्रत आदि करनेकी आज्ञा शास्त्रमें पाई जाती है, तमःप्रधान कलियुगमें गर्भाधान आदि संस्कारोंके नष्टप्राय हो जानेसे कामज सन्तति प्रायः होनेके कारण उन सब तपस्या या व्रतोंका आचरण कामज शरीरोंके द्वारा नहीं हो सकता है, इसलिये वनमें जाकर कठिन तपस्या, भृगुपतन, अग्निप्रवेश आदि करना असम्भव होगया है। इन्हीं सब बातोंपर विचार करके भगवान् शङ्कराचार्य्य प्रभुने भी वानप्रस्थ और संन्यास दोनोंकी सहायताके अर्थ मठस्थब्रह्मचर्य्य-आश्रमकी नवीन विधिकी सृष्टि की थी। अतः देशकालपात्रानुसार लक्ष्यको स्थिर रखते हुए वानप्रस्थाश्रमको निभाना ही विचार और शास्त्रसङ्गत होगा।

वानप्रस्थाश्रम निवृत्तिमार्गका द्वार है। प्राक्तन सुकृतिसे मनुष्य संन्यासी बनते हैं परन्तु ऐसे भाग्यशाली मनुष्य संसारमें बहुत कमही होते हैं। इस कारण वानप्रस्थाश्रमकी स्थापना किसी न किसी स्वरूपमें अवश्य होनी चाहिये। प्रस्तावके तौरपर एक आध विचार निश्चय किया जाता है। किसी प्राचीन तीर्थको अथवा किसी प्राचीन तीर्थके किसी भागको सत्सङ्ग और सच्चर्चाके द्वारा आदर्शस्थान बनाकर वहीं यदि निवृत्तिसेवी व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक उन्नति और निवृत्तिमार्गमें जानेके विचारसे प्रतिज्ञा करके गुरु और शास्त्रके आश्रयसे उक्त आदर्शतीर्थमें वास करें और क्रमशः साधुसङ्ग, वैराग्यचर्चा, अध्यात्मशास्त्रोंका पठन पाठन और योग-साधनादि आध्यात्मिक उन्नतिकारी अनुष्ठानोंको करते हुए अपने जीवनको कृतकृत्य करें, तो वे इस कराल कलियुगमें वानप्रस्थ-आश्रमका बहुतसा फल प्राप्त कर सकेंगे और इस प्रकारसे ऐसे निवृत्ति-सेवी भाग्यवान् तपस्वी क्रमशः अच्छे संन्यासी बन सकेंगे और यदि वे कठिन संन्यासाश्रममें न भी पहुंचना चाहें तो भी अपनी बहुत कुछ आध्यात्मिक उन्नति कर सकेंगे एवं आदर्श दिखाकर जगत्का भी कल्याण कर सकेंगे।

(संन्यासाश्रम)

अब संक्षेपसे चतुर्थ अर्थात् संन्यासाश्रमका कुछ वर्णन किया जाता है। यह बात पहले ही कही गई है कि प्रवृत्तिका निरोध और निवृत्तिका पोषण करके क्रमशः मनुष्यको जीवभावसे ब्रह्मभावमें लेजाकर पूर्णता प्राप्त कराना ही वर्ण तथा आश्रमधर्म्मका लक्ष्य है। इसलिये महर्षियोंने चार वर्ण और चार आश्रमके अर्थ ऐसी ही विधियां बताई हैं कि जिनसे प्रवृत्तिरोध और निवृत्तिपोषण द्वारा जीवकी उन्नति हो।

प्रकृतिकी तामसिक भूमिमें शूद्रकी उत्पत्ति होती है इसलिये स्वाधीनताके साथ विचार द्वारा जीवनयात्रा निर्वाह शूद्रकी भूमिमें

साधारणतः असम्भव है। अतः द्विजोंके अधीन होकर सेवा द्वारा उन्नति करना ही शूद्रका धर्म बताया गया है, जिससे स्वाभाविक उच्छृङ्खल प्रवृत्तिका निरोध होकर उन्नति हो। उससे उन्नत भूमि वैश्यकी है जिसमें तमके साथ रजोगुणका विकाश होनेके कारण स्वयं कार्य करनेकी इच्छा बलवती होना प्रकृतिके अनुकूल होगा, परन्तु तमोगुणका आवेश रहनेसे स्वयंकृत कार्य्यमें प्रमादादि दोष हो सकते हैं। अतः वैश्यके लिये यह धर्म बताया गया है कि वाणिज्य आदि द्वारा अर्थ-उपार्जन करनेपर भी गोरक्षा तथा कृषि-उन्नति द्वारा देशका अन्नसंस्थान आदि सत्कार्योंके लक्ष्यसे उस प्रवृत्तिको चरितार्थ करे जिससे स्वाभाविक उच्छृङ्खल प्रवृत्ति रुक सके। तदनन्तर तृतीय वर्ण अर्थात् क्षत्रियकी भूमिमें रजोगुणका आधिक्य होनेसे अहंकार और अभिमानका सम्बन्ध बढ़ जायगा, परन्तु उस अभिमानको निरंकुश प्रवृत्तिपथमें न लगाकर क्षत्रियभूमिमें विकाश प्राप्त सत्त्वगुणके साथ प्रजापालन, देश तथा जातिकी रक्षा और धर्म्मकी रक्षा आदि कार्योंमें लगानेसे उच्छृङ्खल प्रवृत्ति रुक जायगी। अन्तमें अर्थात् ब्राह्मण वर्णमें सत्त्वगुणका विशेष विकाश स्वाभाविक होनेसे प्रवृत्तिमूलक अहंकार, अभिमान, लोभ और वित्तैषणा आदिका क्षय होकर तपस्या, शम, दम, अध्यात्मचिन्तन और परोपकार आदि शुद्ध सात्त्विक भावोंका विकाश होगा जिससे प्रवृत्तिका पूर्ण निरोध होकर जीवभावके नाशसे ब्रह्मभावप्राप्ति होगी। यही वर्णधर्म द्वारा प्रवृत्तिके निरोधका रहस्य है जैसा कि पहिले अध्यायमें कहा गया है।

अब आश्रमधर्मके रहस्यपर मनन करनेपर भी यही निवृत्तिपोषणरूप भाव क्रमशः विकाशको प्राप्त होता हुआ दृष्टिगोचर होगा। मनुजीने कहा हैः—

प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्।

मनुष्यकी प्रवृत्ति ही स्वाभावतः निम्नगामिनी है, इसलिये प्रथम

अर्थात् ब्रह्मचर्य्य आश्रममें प्रवृत्तिके निम्नगामी स्रोतको रोकनेके लिये अपनेको पूर्णतया आचार्य्यके आधीन कर देना और उन्हींकी आज्ञासे सब कुछ करना ब्रह्मचर्याश्रमका धर्म है। इस प्रकार निम्नगामी प्रवृत्तिको रोककर उसकी गति ऊपरकी ओर करनेके लिये अर्थात् धर्ममूलक प्रवृत्तिकी शिक्षा पानेके लिये ब्रह्मचर्याश्रमकी विधि महर्षियोंने बताई है। धर्ममूलिका प्रवृत्ति निवृत्तिप्रविनी है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसलिये प्रथम आश्रममें प्रवृत्ति शिक्षा द्वारा निवृत्तिका पोषण होता है। द्वितीय अर्थात् गृहस्थाश्रममें आनेसे धर्म्ममूलक प्रवृत्तिकी चरितार्थता होती है जिससे स्वयं ही निवृत्तिका पोषण होता है। उद्दाम इन्द्रियप्रवृतिको एकपत्नीव्रत द्वारा निरुद्ध करके, आत्मसुखभोग-प्रवृत्तिको पुत्र परिवारादिके सुखसाधनमें विलीन करके, अपने प्राणको पारिवारिक प्राणके साथ मिलाकरके और दुसरेके सुखमें अपना सुख समझ करके गृहस्थका प्रवृत्तिसङ्कोच और निवृत्तिपोषण होता है, परन्तु गृहस्थाश्रममें प्रवृत्तिकी धर्ममूलक चरितार्थता द्वारा निवृत्तिका पोषण होनेपर भी गृहस्थाश्रमके कार्य्योंके साथ अपने शारीरिक और मानसिक सुखका सम्बन्ध रहनेसे आत्मा स्थूल और सूक्ष्म शरीरोंसे बद्ध रहता है। अपने स्त्री पुत्र और परिवारके सुखके लिये सुखत्याग करनेपर भी उसी सुखत्यागमें ही गृहस्थको सुख होता है, उनको आराममें रखकर गृहस्थको सुख मिलता है अर्थात् उनके सुख दुःखके साथ गृहस्थ अपने सुख दुःखका सम्बन्ध बांध लेता है। इसलिये केवल अपनी सुखान्वेषण प्रवृत्तिकी दशासे यद्यपि यह दशा बहुत उत्तम है तथापि इसमें भी आत्माका शरीरसे बन्धन ही रहता है और जबतक यह दशा रहेगी अर्थात् आत्माका स्थूल सूक्ष्म शरीरसे बन्धन रहेगा और उन्हींके सुख दुःखसे आत्मा अपनेको सुखी या दुःखी समझेगा तबतक मुक्ति नहीं हो सकती है। इसलिये तृतीय और चतुर्थ आश्रममें आत्माको शरीर और मनसे पृथक् करके स्वरूप

स्थित करनेके लिये उपाय बताये गये हैं। वानप्रस्थाश्रमकी समस्त तपस्या और आचरण सभी इन्द्रियसुखभोगसे अन्तःकरणको पृथक् करके आत्मामें लवलीन करनेके लिये है। इसलिये वह आश्रम साक्षात्‌रूपसे निवृत्तिका पोषक है। शरीर और मनको सुख दुःख, शीत उष्ण, राग द्वेष, समस्त द्वन्द्वोंमें एकरस और सहिष्णु बनाना इस आश्रमका प्रधान धर्म है। इसके द्वारा आत्मा स्थूल सूक्ष्म शरीरसे पृथक् होकर स्वरूपकी ओर अग्रसर होने लगता है। बहुत दिनों-तक गृहस्थाश्रममें प्रवृत्तिका सङ्ग होनेसे शारीरिक और मानसिक अभ्यास और प्रकारका होगया था, इसलिये कठिन तपस्या द्वारा उन अभ्यासोंको त्याग कराके वानप्रस्थ निःश्रेयसप्रद संन्यासाश्रम-का अधिकार प्राप्त कराता है। मनुसंहितामें लिखा है कि,—

वनेषु तु विहृत्यैव तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत्॥
आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः।
भिक्षाबलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन् प्रेत्य वर्द्धते॥

इस प्रकार आयुका तृतीय भाग वानप्रस्थाश्रममें यापन करके चतुर्थ भागमें निःसङ्ग होकर संन्यास ग्रहण करे। एक आश्रमसे आश्रमान्तर ग्रहण करते हुए अग्निहोत्रादि होम समाप्त करके जिते-न्द्रियताके साथ जब भिक्षा बलि आदि कर्मोंसे श्रान्त हो, तब संन्यास ग्रहण करनेसे परलोकमें उन्नति होती है। यह संन्यासका साधारण क्रम है। असाधारण दशामें ब्रह्मचर्य्यआश्रमसे ही प्रारब्ध बलसे एक बार ही संन्यासाश्रम ग्रहण होता है, जैसा कि पहले कहा गया है। श्रुतिमें लिखा है किः—

न कर्म्मणा न प्रजया धनेन
त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः।

सकाम कर्म्म, सन्तति या धन किसीसे भी अमृतत्वलाभ नहीं होता है, केवल त्यागसे ही अमृतत्वलाभ होता है। जिस द्विजमें

यह त्यागबुद्धि ब्रह्मचर्य्याश्रममें ही हो गई है उसके लिये श्रुतिने आज्ञा की है किः—

ब्रह्मचर्य्यादेव प्रव्रजेत्।

यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्। इत्यादि।

ब्रह्मचर्य्यसे ही संन्यास लेवे, जिस दिन वैराग्य हो उसी दिन संन्यास लेवे इत्यादि। परन्तु जिनका अधिकार नैष्ठिक ब्रह्मचर्य्यका नहीं है उनके लिये क्रमशः आश्रमसे आश्रमान्तर ग्रहण द्वारा उच्चाधिकार प्राप्त होते हुए चतुर्थाश्रममें संन्यास लेना ही शास्त्रसङ्गत है। संन्यासाश्रममें निवृत्तिकी पूर्ण चरितार्थता होती है। जो महाफल निवृत्तिव्रत ब्रह्मचर्य्याश्रममें प्रारम्भ हुआ था, संन्यासाश्रममें उस महाव्रतका उद्यापन होता है, जिससे जीवको मोक्षरूप फलकी प्राप्ति होती है।

ब्रह्ममें अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत, ये तीन भाव हैं, इसलिये कार्य्यब्रह्मरूपी इस संसारकी प्रत्येक वस्तुमें भी तीन भाव हैं, अतः जीवमें भी तीन भाव हैं। इन तीनों भावोंके द्वारा ही शुद्धि और पूर्णता पाकर साधक ब्रह्मरूप बन सकता है। निष्काम कर्म्मके द्वारा आधिभौतिक शुद्धि, उपासनाके द्वारा आधिदैविक शुद्धि और ज्ञानद्वारा आध्यात्मिक शुद्धि होती है, इसलिये संन्यासाश्रममें निष्काम कर्म्म, उपासना और ज्ञानका अनुष्ठान शास्त्रोंमें बताया गया है।

निष्काम कर्म्मके विषयमें श्रीगीताजीमें कहा है किः—

अनाश्रितः कर्म्मफलं कार्य्यं कर्म्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाऽक्रियः॥
काम्यानां कर्म्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्व्वकर्म्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥

कर्म्मफलकी इच्छा न करके जो कर्त्तव्य कर्म्म करता है वही संन्यासी और योगी है, निरग्नि और अक्रिय होनेसे ही संन्यासी नहीं

होता है। काम्यकर्म्मोंका त्याग ही संन्यास है और सकल कर्म्मोंका फलत्याग ही त्याग है। कर्म्मत्याग त्याग नहीं है। इसलिये निष्काम जगत्कल्याणकर कार्य्य संन्यासीका अवश्य कर्त्तव्य है। जीवभाव स्वार्थमूलक है, जबतक यह स्वार्थभाव नष्ट नहीं हो तबतक जीवभाव भी नष्ट नहीं हो सकता है। निःस्वार्थ जगत्सेवाद्वारा स्वार्थबुद्धि नष्ट होकर जीवभावका नाश होता है, तभी संन्यासी अपने लक्ष्यको प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिये गीताजीमें निष्काम कर्म्मकी इतनी प्रशंसा की गई है और इसीलिये प्राचीन महर्षिलोग इतने परोपकारव्रतपरायण हुआ करते थे। परमात्मा सत् चित् और आनन्दरूप हैं। उनकी सत्सत्तासे विराट्की स्थिति है। कर्म्मसे सत्सत्ताका सम्बन्ध है। संन्यासी निष्काम कर्म्म द्वारा अपनी सत्ताको विराट्की सत्तासे मिलाकर ही सद्भावकी पूर्णताको प्राप्त होसके हैं क्योंकि परमात्मामें सत् चित् और आनन्द्भाव है तो परमात्माके अंशरूप जीवोंमें भी ये तीनों भाव विद्यमान हैं। जीवोंमें ये तीनों भाव परिच्छिन्न हैं। जबतक ऐसी परिच्छिन्नता है तबतक जीव बद्ध है। मुक्तिके लिये अपनी सत्सत्ताको उदार करके विराट्की सत्तामें विलीन करना पड़ता है, अन्यथा सद्भावकी पूर्णता नहीं हो सक्ती है। संसारको भगवान्का रूप जानकर निष्काम जगत्सेवामें प्रवृत्त होनेसे साधक अपने जीवनको विश्वजीवनके साथ सहजही मिला सकते हैं और इसीसे उनकी सत्सत्ता विराट्की सत्तासे मिल सकती है। यही संन्यासाश्रममें मुक्तिका प्रथम अङ्ग है। इसलिये संन्यासीको अवश्य ही निष्काम कर्म्म करना चाहिये, अन्यथा पूर्णता नहीं होगी और तमःप्रधान कलियुगमें तो निष्काम कर्म्मकी बहुत ही आवश्यकता है क्योंकि इस युगमें कालधर्म्मके अनुसार तमोगुणका प्रभाव सर्व्वत्र रहता है जिससे कर्म्महीन पुरुषमें आलस्य प्रमाद आदिका होना बहुत ही सम्भव है। इसलिये निष्कामव्रतपरायण न होनेसे कलियुगके

संन्यासियोंमें आलस्य प्रमाद आदि बढ़कर पतन होनेकी विशेष सम्भावना रहेगी। अतः अपने स्वरूपमें स्थित रहकर संन्यासका चरम लक्ष्य निःश्रेयसपद प्राप्त करनेके लिये कलियुगमें संन्यासीको अवश्य ही निष्काम कर्म्मयोगी होना चाहिये। इससे उनका पतन नहीं होगा। यही वेद और शास्त्रोंकी आज्ञा है। अवश्य संन्यास-धर्म्मपरायण व्यक्तिको जगत्‌को भगवान्‌का रूप मानकर और जगत्सेवाको भगवत्सेवा मानकर शुद्ध निष्काम और भक्तियुक्त होकर कार्य्य करना चाहिये। उसमें वित्तैषणा या लोकैषणा आदि दोष कभी नहीं होने चाहिये। श्रुति कहती है किः—

पुत्रैषणाया वित्तैषणाया लोकैषणाया
व्युत्थायाऽथ भिक्षाचर्य्यं चरन्ति।

पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा, इन तीनों एषणाओंके छूटने-पर तब यथार्थ संन्यासी हो सकते हैं। इस प्रकार निष्काम कर्म्म करनेसे संन्यासी अपने जीवनको संसारके लिये उत्सर्ग करते हुए अवश्य ही पूर्णता प्राप्त करेंगे।

अत्यन्त ही खेदकी बात यह है कि आजकल साधु और संन्यासियों-की संख्या आवश्यकतासे अधिक और शास्त्र-अनुशासनके विपरीत रूपसे अधिक होने पर भी उनके इस अपने निष्काम धर्म्मको भूल जानेके कारण वे अपनी जातिके काम नहीं आते। आजकलके साधु संन्यासी निष्काम व्रतको भूल रहे हैं इस कारण वे बुद्धिमान् व्यक्तियों-के निकट अपने समाजमें अयोग्य और भाररूप समझे जाते हैं। यदि आज कलके साधु संन्यासी जगत्पवित्रकर इस निष्कामव्रतके महत्त्वको कुछ भी समझते तो भारतवर्षकी उन्नति और सनातधर्म्म-के पुनरभ्युदयमें विलम्ब नहीं होता; परन्तु हमारी जातिके इस दुर्दैवके लिये आजकलके गृहस्थ भी कुछ जिम्मेवार हैं। यदि वे योग्य, तपःस्वाध्यायरत, जितेन्द्रिय, ज्ञानी और निष्कामव्रत-परायण साधु संन्यासियोंका विशेष सम्मान और अयोग्य साधु

संन्यासियोंका तिरस्कार करते रहते तो अयोग्य व्यक्तियोंकी संख्या बढ़कर हमारी जाति ऐसी कलङ्कित नहीं बन जाती। अतः अयोग्य व्यक्तियोंके तिरस्कार और योग्य व्यक्तियोंके पुरस्कार करनेकी ओर हिन्दुजातिका विशेष ध्यान रहना चाहिये और दूसरी ओर साधु संन्यासियोंके जो आचार्य्य, महन्त और नेता लोग हैं उनका भी कर्त्तव्य होना चाहिये कि वे अपने सम्प्रदायमें निष्कामव्रत, धर्म्मप्रचारप्रवृत्ति और जगत्सेवामें अनुराग क्रमशः बढ़ानेका यत्न करें जिससे साधु संन्यासियोंमें निष्काम कर्म्मयोगकी प्रवृत्ति बढ़े। ऐसा यत्न सर्व्वसाधारण सनातनधर्मावलम्बी मात्रको करना उचित है।

निष्काम कर्मके साथ साथ उपासना और ज्ञानका भी अनुष्ठान संन्यासीको करना चाहिये। श्रुतियोंमें आज्ञा है कि:—

आत्मानमुपासीत ।

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः ।

आत्माकी उपासना करनी चाहिये। ज्ञानके विना मुक्ति नहीं होती है। उपासनाके द्वारा परमात्माकी आनन्दसत्ता और ज्ञानके द्वारा उनकी चित्सत्ताकी उपलब्धि होती है। संन्यासीके लिये अधिकारानुसार राजयोगोक्त निर्गुण ब्रह्मोपासना विहित है और ज्ञानका साधन सप्तज्ञानभूमियोंके अनुसार करना चाहिये जिससे प्रकृतिसे अतीत व्यापक और नित्य शुद्धबुद्ध मुक्तस्वरूप आत्माकी उपलब्धि हो। समस्त वेदान्त और उपनिषद्शास्त्रमें इसी स्वरूपोपलब्धिके लिये उपाय बताये गये हैं जिनके नियमित अनुष्ठानके द्वारा जीव अविद्याबन्धनसे निर्मुक्त होकर अवश्य ही स्वरूपस्थित हो सकते हैं। यही श्रुतिस्मृतिप्रतिपादित आश्रमधर्मका संक्षेप रहस्य है।

नारीधर्म ।

(५)

जिस प्रकार वर्णधर्म और आश्रमधर्म विशेषधर्मके अन्तर्गत हैं उसी प्रकार नारीधर्म भी विशेषधर्मके अन्तर्गत है। जिस प्रकार चतुराश्रमधर्मके सम्यक् पालन द्वारा पुरुष मुक्ति पदवी तक पहुंच सकता है उसी प्रकार स्त्रीजाति नारीधर्मके पूर्ण पालन द्वारा अपनी स्त्रीयोनिसे मुक्त होकर उत्तम जातिको प्राप्त हो सकती है। इसी कारण पूज्यपाद महर्षियोंने स्त्रीजातिके लिये इस विशेषधर्मका निर्देश किया है।

कर्मजगत्में स्त्री और पुरुषका सम्बन्ध भूमि और बीजकी तरह है; अर्थात् पुरुष बीजदाता तथा प्रकृति क्षेत्र है और इसी विचारसे ही महर्षियोंने पुरुषके लिये यज्ञधर्म तथा स्त्रीके लिये तपोधर्मकी आज्ञा की है। इस तपोधर्मके अनुष्ठानके लिये स्त्रीजाति- के तीन कर्त्तव्य हैं, यथा शारीरिक, वाचनिक, मानसिक, त्रिविध तप करना, पातिव्रत्यका पूर्ण पालन करना और अस्वतन्त्र होकर पुरुषके वशम्वद रहना। इन तीनोंके विना स्त्रीजाति अपने विशेष धर्म पालन द्वारा स्त्रीयोनिसे मुक्ति लाभ नहीं कर सकती है। ऐसा क्यों है इसका शास्त्रीय रहस्य नीचे क्रमशः बताया जाता है।

सृष्टिक्रियामें स्त्रीयोनिकी उत्पत्ति पुरुषयोनिसे बहुत पीछे होती है। प्रथम सृष्टिमें पितामह ब्रह्मा तथा महर्षियोंने मनोबलसे मानसी सृष्टि की थी। उसमें स्त्रीकी आवश्यकता ही नहीं होती है। उपनिषद्में लिखा है— "मनसा साधु पश्यति, मानसाः प्रजा असृजन्त।" महाभारतमें भी लिखा है—

आदिदेवसमुद्भूता ब्रह्ममूलाऽक्षयाऽव्यया।
सा सृष्टिर्मानसी नाम धर्मतन्त्रपरायणा॥

उसके बाद भी सृष्टिमें स्त्री-पुरुषका अलग अलग शरीर न होकर पुरुषके ही शरीरमें स्त्रीशरीर उत्पन्न हुआ। आधुनिक सायन्सने भी इस प्रकारकी अर्ध स्त्री तथा अर्ध पुरुषयुक्त (Hermaphroditical) सृष्टि मानी है। आर्यशास्त्रमें भी अर्द्ध-नारीश्वरकी मूर्तिमें इसका आदर्श समझने योग्य है। तदनन्तर सृष्टि-की निम्न दशामें पुरुषशरीरसे पृथक्‌रूपमें स्त्री शरीरकी सृष्टि होने लगी। परन्तु इसपर भी दोनों शरीरोंमें बड़ा ही अन्तर रहा। यथा-पुरुषशरीरमें वीरता, स्वतन्त्रता, स्वाभाविक सुन्दरता आदि लक्षणोंके विकाश होते हैं; किन्तु स्त्रीशरीरमें स्वाभाविक सौन्दर्यके लक्षण नहीं हैं। उसमें दुर्बलता, बाहरी शोभाका अभाव, वीरताका अभाव तथा अस्वतन्त्रताके स्वाभाविक लक्षण होते हैं। समस्त जीव जन्तुओंमें ही देख सकते हैं कि उनमें पुरुषका जो स्वाभाविक सौन्दर्य है स्त्रीमें वह कुछ भी नहीं है। मयूरका सौन्दर्य मयूरीमें नहीं है, सिंहके केशरादिका सौन्दर्य सिंहीमें नहीं है, हस्तीके दन्तादिका सौन्दर्य हस्तिनीमें नहीं है, पुरुषके श्मश्रु आदिको सौन्दर्य नारीमें नहीं है और न पुरुषकी स्वाभाविक वीरता तथा स्वतन्त्रताके ये सब लक्षण स्त्रीमें पाये जाते हैं। इन सब प्राकृतिक विषयोंपर विचार करनेसे स्वतः ही प्रमाणित होता है कि प्रकृति माताने स्त्री जातिको पुरुषके अधीन होकर ही उनके साथ मिलकर उन्नति करनेकी आज्ञा की है। वास्तवमें पतिके वश होकर पतिमें मनप्राण सौंपकर अस्वतन्त्रताके अवलम्बन द्वाराही स्त्रीजाति अपना कल्याण कर सकती है। उनके लिये स्वतन्त्र होना अपना सत्ता नाश करना ही है। यही स्त्रीजातिके लिये तपोधर्ममूलक पातिव्रत्य पालनकी आज्ञाका प्रथम कारण है। इसका द्वितीय कारण और भी गम्भीर तथा रहस्यपूर्ण है जो नीचे बताया जाता है।

प्रलयके समय परमात्मा एक ही रहते हैं और प्रकृति परमात्मामें लय हो रहती है। पश्चात् जब सृष्टिका समय आता है तो परमा-

त्मासे उनकी शक्तिरूप प्रकृति निकलती है और परमात्मा और प्रकृति दोनोंके मेलसे सृष्टि होने लगती है। जिस प्रकार संसारमें स्त्री और पुरुषके मेलसे जब सृष्टि होने लगती है तो पुरुषशक्तिके प्रधान होनेसे लड़का और स्त्रीशक्तिके प्रधान होनेसे लड़की होती है, ठीक उसी प्रकार प्रकृतिमें सृष्टिकी दो धारायें देखनेमें आती हैं, यथा-एक पुंशक्तिप्रधान पुरुषधारा और दूसरी स्त्रीशक्ति-प्रधान स्त्रीधारा। प्रथम धारामें जीव यथाक्रम पुरुषयोनिको प्राप्त होता हुआ उद्भिज्जसे ऊपरकी ओर अग्रसर होता है और द्वितीय धारामें जीव यथाक्रम स्त्रीयोनिको प्राप्त होता हुआ उद्भिज्जसे ऊपरकी ओर उद्भिज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज इस क्रमसे चलता है। मनुष्यके नीचेकी चौरासी लक्ष योनिमें सृष्टिका नियम प्रकृतिके अधीन होनेसे एक ही प्रकारका होता है। इसलिये जो जीव प्रकृतिकी पुरुषधारामें उन्नत होता है वह मनुष्ययोनिके पहले तक चौरासी लक्ष योनि पर्यन्त बराबर पुरुष योनिको ही प्राप्त करता हुआ चला आता है। इसी प्रकार स्त्रीधारामें पतित जीव उद्भिजयोनिसे लगातार मनुष्ययोनिपर्य्यन्त स्त्री ही बनता हुआ चला आता है।

अब मनुष्ययोनिमें आकर कैसा धर्मपालन करनेसे स्त्री और पुरुष दोनोंकी उन्नति और मुक्ति हो सकती है सो विचार करने योग्य है। पूर्ण प्रकृति परमात्मामें लय होकर रहती है, इसलिये परमात्मासे निकली हुई प्रकृति जिससे संसार बनता है वह अपूर्ण है। परन्तु परमात्मा अर्थात् पुरुष सदा ही पूर्ण होनेपर भी अपूर्ण प्रकृति या मायाकी छाया जब पुरुषपर पड़ती है तब ही पुरुष अपूर्णता दिखाने लगता है, जैसा कि स्फटिक स्वच्छ होनेपर भी लाल पुष्पके सामने आनेसे लाल दिखने लगता है। यही पुरुषका बन्धन है। इसलिये जब पुरुष स्वभावतः मुक्त और पूर्ण है, केवल प्रकृतिके सम्बन्धसे ही बद्ध और अपूर्ण मालूम होते हैं तो पुरुषकी मुक्ति तब होगी जब

उनकी बन्धनकारिणी प्रकृतिको पुरुष छोड़ देंगे। इस तरहसे पूर्ण पुरुष अपूर्ण प्रकृतिको छोड़कर पूर्ण हो जायंगे, इसलिये पुरुषका वह धर्म है जिससे पुरुष प्रकृतिको छोड़ सके। संसार उसी प्रकृति और पुरुषके अंशसे बना हुआ है, इसलिये संसारमें पुरुषकी मुक्ति तब होगी, जब वे प्रकृतिरूपिणी स्त्रीको अर्थात् संसारको छोड़ देंगे। इसलिये पुरुषका धर्म वैराग्यप्रधान है। परन्तु स्त्रीका धर्म ऐसा नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रकृति अपूर्ण होनेसे प्रकृतिकी अंशरूप स्त्री भी अपूर्ण है। जो अपूर्ण है वह पूर्णको छोड़कर पूर्ण नहीं हो सकता, परन्तु पूर्णमें लय होकर ही पूर्ण हो सकता है। इसलिये अपूर्ण स्त्रीका वही एकमात्र धर्म होगा जिससे अपूर्ण स्त्री पूर्ण पुरुषमें लय हो सके। स्त्रीशरीर, मन, प्राण और आत्माके साथ पुरुष पतिमें लय होकर ही पूर्ण और मुक्त हो सकती है। यही स्त्रीका एकमात्र धर्म है, जिसको पातिव्रत्य धर्म कहते हैं। पातिव्रत्य धर्म्मके पूर्ण अनुष्ठानसे पतिभावमें ही तन्मय होकर स्त्री देहत्यागके बाद पतिके साथ पञ्चमलोकमें रहती है। वहां उसी तन्मयताके साथ भोगकालपर्य्यन्त रहकर भोगान्तमें पुनः संसारमें आजाती है। उस समय उस स्त्रीको उन्नत पुरुष शरीर मिलता है, क्योंकि पतिमें तन्मय हो जानेसे उसकी स्त्रीसत्ता नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार पातिव्रत्य धर्म्मके बलसे स्त्री पुरुषयोनिको प्राप्त करके मुक्त हो सकती है। इसीलिये नारीजातिके लिये पातिव्रत्य धर्म्मकी ऐसी तपोमूलक कठिन आज्ञा महर्षियोंने दी है और इसलिये ही मन्वादि स्मृतियोंमें लिखा है किः—

विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
उपचर्य्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः॥
नाऽस्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाऽप्युपोषितम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥
पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।

पतिलोकमभीप्सन्ती नाऽऽचरेत् किञ्चिदप्रियम् ॥
भुंक्ते भुक्तेऽथ या पत्यौ दुःखिते दुःखिता च या।
मुदिते मुदितोऽत्यर्थं प्रोषिते मलिनाम्बरा ॥
सुप्ते पत्यौ च या शेते पूर्व्वमेव प्रबुध्यते।
प्रविशेच्चैव या वह्नौ याते भर्तरि पञ्चताम्।
नाऽन्यं कामयते चित्ते सा विज्ञेया पतिव्रता ॥

शील, चरित्र वा गुणोंसे हीन होनेपर भी पतिव्रता स्त्रीको सदा देवताके समान पतिकी सेवा करनी चाहिये। स्त्रियोंके लिये कर्तव्य कोई भी पृथक् यज्ञ व्रत या उपवास आदिकी विधि नहीं है, केवल पतिसेवा द्वारा ही उनको उन्नत लोक प्राप्त होता है। पति जीवित हो या मृत हो पतिलोकके चाहनेवाली स्त्री कदापि उसके अप्रिय आचरण न करेगी। पतिके भोजनके बाद भोजन करनेवाली, उसके दुःखसे दुःखिता और सुखसे सुखिनी, उसके विदेश जानेपर मलिन वस्त्रधारिणी, उसके सोने बाद सोनेवाली, उसके जागनेके पहले जागनेवाली, उसकी मृत्यु होनेपर अग्निमें प्राणत्याग करनेवाली और जिसके चित्तमें सिवाय अपने पतिके और किसीकी चिन्ता नहीं है, वह स्त्री पतिव्रता कहलाती है।

नारीजीवनको साधारणतः तीन अवस्थाओंमें विभक्त कर सकते हैं। यथाः—कन्या, गृहिणी और विधवा। नारीका एकमात्र धर्म्म पातिव्रत्य होनेसे इस व्रतके लिये शिक्षा उक्त तीनों अवस्थाओंमें हुआ करती है। कन्यावस्थामें पातिव्रत्यकी शिक्षा, गृहिणी अवस्थामें उसका पालन और विधवावस्थामें उसकी परम परीक्षा होती है।

कन्याके लिये ऐसी शिक्षा होनी चाहिये जिससे वे पूर्ण माता बन सकें। उनको पिता बनानेके लिये यत्न करना उन्मत्तता और अधर्म्म है। इससे फलसिद्धि न होकर "इतो नष्टस्ततो भ्रष्टः" हो जायगा; क्योंकि स्त्रीको पुरुषकी तरह शिक्षा देनेका यही विषमय फल होगा कि, प्रकृतिविरुद्ध होनेसे वह स्त्री पुरुषभावको तो कभी

नहीं प्राप्त कर सकेगी, अधिकन्तु कुशिक्षाके कारण स्त्रीभावको भी खो देगी जिससे उसके और संसारके लिये बहुत ही हानि होगी। पति-भावमें तन्मयता ही स्त्रीकी पूर्णोन्नति होनेके कारण, पुरुषके अधीन होकर ही स्त्री उन्नति कर सकती है, स्वतन्त्र होकर नहीं कर सकती है और ऐसा करना भी स्त्रीप्रकृतिसे विरुद्ध है। इसीलिये मनुजीने कहा है कि:—

अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्य्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम् ।
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे ॥
पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥
बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने ।
पुत्राणां भर्त्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥

पुरुषोंका कर्तव्य है कि स्त्रियोंको सदा ही अधीन रक्खें। उन्हें स्वतन्त्रता न देवें। गृहकार्य्यमें प्रवृत्त करके अपने वशमें रक्खें। स्त्री कन्यावस्थामें पिताके अधीन रहती है, यौवनकालमें पतिके अधीन रहती है और वृद्धावस्थामें पुत्रके अधीन रहती है। कभी स्वतन्त्र करने योग्य स्त्रीजाति नहीं है। पतिदेवताके साथ स्त्रीका उपास्य उपासक भाव है। उपासक भक्त उपास्य देवताके वश होकर उनमें भक्तिके द्वारा लय हो जानेसे ही मुक्ति लाभ कर सकता है। उनसे स्वतन्त्र होने पर नहीं कर सकता है। यही पातिव्रत्य धर्म है। स्त्रीको पुरुषकी तरह शिक्षा देनेसे उसमें स्वतन्त्र भ्रमण, स्वतन्त्र प्रेम और स्वेच्छाचार आदि स्वतन्त्रताके भाव आ जायँगे जिससे पातिव्रत्य धर्म नष्ट हो जायगा। कन्याको ऐसी शिक्षा होनी चाहिये कि जिससे वह भविष्यत्में पतिके अधीन रहकर अच्छी माता और पतिव्रता सती बन सके; क्योंकि अपनी उन्नति और सन्तानोंकी पहली शिक्षाके लिये पितासे भी माताका सम्बन्ध अधिक रहता है। वीर माताकी वीर सन्तान और धार्मिक माताकी

धार्मिक सन्तान प्रायः हुआ करती है। अतः वर्तमान देशकालके विचारसे यदि स्त्रीको शिक्षा देनेकी आवश्यकता समझी जाय तो पिता माताको सदाही ध्यान रखना चाहिये कि उनको पातिव्रत्य दृढ़ करने वाली शिक्षा मिले और पातिव्रत्य भ्रष्टकारी शिक्षा कदापि न दी जाय। यदि स्त्री बहुत शिक्षिता हो परन्तु पतिव्रता न हो तो उसके लिये वह शिक्षा व्यर्थ है; क्योंकि पातिव्रत्यके द्वारा ही स्त्री जातिको उन्नति और मुक्ति मिलती है। इसलिये शिक्षाका वही उद्देश्य होना चाहिये।

शिक्षाके विषयमें विचार करके अब संस्कारोंके विषयमें विचार किया जाता है।

मनुजीने पुरुष प्रकृति और स्त्री प्रकृतिपर संयम करके दोनोंका-प्रभेद देखकर स्त्रीके लिये निम्न लिखित रूपसे विवाहादि संस्कारों-की आज्ञा की है, यथाः—

अमन्त्रिका तु कार्य्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।
संस्काराऽर्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम्॥
वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहाऽर्थोऽग्निपरिक्रिया॥

शरीरकी शुद्धिके लिये यथाकाल और यथाक्रम जातकर्म्मादि सभी संस्कार स्त्रियोंके लिये भी करने चाहिये, परन्तु उनके संस्कार वैदिकमन्त्ररहित होने चाहिये। सभी संस्कार कहनेसे यदि स्त्रियों-के लिये उपनयन संस्कारकी भी आज्ञा समझी जाय, इस सन्देहको सोचकर मनुजी दूसरे श्लोकमें कहते हैं कि स्त्रियोंका उपनयन संस्कार नहीं होना चाहिये। विवाह संस्कार ही स्त्रियोंका उपनयन संस्कार है. इसमें परम गुरु पतिकी सेवा ही गुरुकुलमें वास है और गृहकार्य्य ही सन्ध्या तथा प्रातःकालमें हवनरूप अग्नि-परिचर्य्या है। यही स्त्रियोंके लिये उपनयन संस्कार है।

कन्याके विवाहकालके विषयमें शास्त्रोंमें मतभेद पाया जाता है अतः यह विषय विचार करनेके योग्य है। यह बात पहले ही कही गई है कि विवाहका प्रथम उद्देश्य सुपुत्र उत्पन्न करके पितरोंका ऋणशोध और दूसरा पवित्र दाम्पत्यप्रेमके द्वारा स्त्री पुरुषकी पूर्णताप्राप्ति है। मनुसंहितामें भी कहा है कि:—

अपत्य धर्म्मकार्य्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा।
दाराऽधानस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह॥

सन्तानोत्पत्ति, धर्म्मकार्य, सेवा, उत्तम अनुराग और पितरोंको तथा अपनी स्वर्गप्राप्ति, ये सब स्त्रीके अधीन हैं। अतः विवाहकालके विचारमें भी उपर्य्युक्त दोनों उद्देश्य लक्ष्यीभूत रखने होंगे, अन्यथा संसाराश्रममें स्त्रीपुरुषको कदापि शान्ति नहीं मिलेगी। आर्य्यजातिकी और जातियोंसे यही विशेषता है कि इसमें सभी विचार आध्यात्मिक लक्ष्यको मुख्य रखकर हुआ करते हैं। केवल स्थूलशरीरको ही मुख्य मानकर जो कुछ विचार हैं, आर्य्यभावरहित हैं, वे अतः इस जातिके लिये हानिकर तथा जातित्वनाशक हैं। इसलिये बलवान् और स्वस्थशरीर पुत्र उत्पन्न हो और दम्पतिकी भी कोई शारीरिक हानि न हो, विवाहकालके विषयमें केवल इस प्रकार विचार आर्य्यजातिके अनुकूल नहीं होगा, परन्तु वह असम्पूर्ण विचार कहा जायगा। आर्य्यजातिके उपयोगी पूर्णविचार तभी होगा जब विवाहकालके विषयमें ऐसा ध्यान रक्खा जायगा कि विवाहसे उत्पन्न सन्तति स्वस्थ, सबलकाय और धार्म्मिक भी हो तथा दाम्पत्यप्रेम, संसारमें शान्ति और सबसे बढ़कर पातिव्रत्यधर्म्ममें किसी प्रकारका आघात न लगे। वर कन्याके विवाहकालके लिये इतना विचार करनेपर तभी वह विचार आर्य्यजातिके उपयोगी और पूर्ण विचार होगा।

अब विवाहकालके विषयमें स्मृति आदिमें जो प्रमाण मिलते हैं उनपर विचार किया जाता है। मनुजीने कहा है कि:—

त्रिंशद्वर्षो वहेत् कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्म्मे सीदति सत्वरः॥

तीस वर्षका पुरुष अपने चित्तकी अनुकूला बारह वर्षकी कन्यासे विवाह करे, अथवा चौबिस वर्षका युवक आठ वर्षकी कन्यासे विवाह करे और धर्म्महानिकी यदि आशङ्का हो तो शीघ्र भी कर सकते हैं। महर्षि देवलने कहा है किः—

ऊर्द्ध्वं दशाब्दाद्या कन्या प्राग्रजोदर्शनात्तु सा।
गान्धारी स्यात् समुद्वाह्या चिरंजीवितुमिच्छता॥

दस वर्षसे ऊपर तथा रजोदर्शनके पहले तक कन्या गान्धारी कहलाती है। दीर्घायु चाहनेवाले माता पिताको इस अवस्थामें उसका विवाह कर देना उचित है। संवर्त्तसंहितामें लिखा है किः—

अष्टवर्षा भवेद्गौरी नववर्षा तु रोहिणी।
दशवर्षा भवेत् कन्या अत ऊर्द्ध्वं रजस्वला।
माता चैव पिता चैव ज्येष्ठो भ्राता तथैव च॥
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्॥
तस्माद्विवाहयेत् कन्यां यावन्नर्त्तुमती भवेत्।
विवाहोऽष्टमवर्षायाः कन्यायास्तु प्रशस्यते॥

अतः इन सब प्रमाणोंसे कन्याकी आयुके विषयमें सामान्यतः आठ वर्षसे लेकर बारह वर्ष तककी आयुसे पहले कन्यादानकी आज्ञा है। इसका कारण क्या है सो बताया जाता है। मनुसंहितामें लिखा है किः—

स्वां प्रसूतिं चरित्रञ्च कुलमात्मानमेव च।
स्वञ्च धर्म्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति॥

स्त्रीकी सुरक्षासे निज सन्तति, चरित्र, वंशमर्य्यादा, आत्मा और स्वधर्मकी रक्षा होती है इसलिये स्त्रीकी रक्षा सर्व्वथा करणीय है। अब वह रक्षा कैसे हो सकती है सो विचार करने योग्य है। पहले ही कहा गया है कि प्रत्येक स्त्रीके साथ प्रत्येक पुरुषका जो

भोग्यभोक्ता सम्बन्ध स्वाभाविक है उसको अनर्गल होनेसे रोककर एक सम्बन्धहीमें संस्कार और भावशुद्धि द्वारा स्त्री पुरुषको बांधकर प्रवृत्तिमार्गके भीतरसे निवृत्तिमें लेजाना ही विवाहका लक्ष्य है। इसलिये स्त्रीका और पुरुषका विवाह उसी समय होना चाहिये जिस समय उनमें भोग्यभोक्ता भावका उदय हो। क्योंकि उस समय विवाहसंस्कार न करनेसे प्रवृत्ति अनर्गल अर्थात् अनेकोंमें चञ्चल होकर अधोगति करा सक्ती है।

कन्याकालके विषयमें शास्त्रमें कहा है कि जब तक स्त्री पुरुषके सामने लज्जिता होकर वस्त्रसे अपने अङ्गोंको आवृत न करे और कामादि विषयोंका ज्ञान जब तक उसको न हो तभी तक स्त्रीका कन्याकाल जानना चाहिये। इसी प्रमाणके अनुसार यही सिद्धान्त होता है कि जिस समय स्त्रीमें स्त्रीसुलभ चाञ्चल्य और स्त्रीभावका विकाश होने लगता है और वह समझने लगती है कि "मैं स्त्री हूं, वह पुरुष है और हम दोनोंका भोग्यभोक्तासम्बन्ध विवाहके द्वारा होता है" उसी समय कन्याका विवाह अवश्य होना चाहिये, क्योंकि जिस समय स्त्री पुरुषके साथ अपना स्वाभाविक भोग-सम्बन्ध समझने लगती है, उसी समय विवाह कर देनेसे बहुत पुरुषोंके साथ नैसर्गिक प्रेमप्रवाहका सम्बन्ध बंध जायगा, जिससे पातिव्रत्यधर्ममें, जोकि स्त्रीकी उन्नतिके लिये एकमात्र धर्म है, कोई हानि नहीं होगी। अन्यथा, स्वाभाविक चञ्चल चित्तको निरंकुश छोड़ देनेसे बहुत पुरुषोंमें चाञ्चल्य होकर पातिव्रत्यकी गभीरता नष्ट हो सक्ती है और ऐसा होनेका अवसर देना स्त्रीका सत्तानाश करना है। अतः विवाहका वयःक्रम इन्हीं विचारोंके साथ पिता माताको निर्द्धारण करना चाहिये। इसमें कोई नियमित वर्ष नहीं हो सक्ता है; क्योंकि देश-कालपात्रके भेद होनेसे सभी स्त्रियोंके लिये स्त्रीभाव-विकाशका एक ही काल नहीं हो सक्ता है। परन्तु साधारणतः ८ वर्षसे लेकर १२

वर्ष तक इस प्रकार स्त्रीभाव-विकाशका काल है इसीलिये मनु आदि महर्षियोंने ऐसी ही आज्ञा की है।

अब महर्षियोंके द्वारा विहित विवाहसे उक्त बातोंकी सिद्धि कैसे हो सक्ती है सो बताया जाता है। यौवनके प्रथम विकाशके साथ ही साथ स्त्री और पुरुषमें जो भोग्यभोक्ताका ज्ञान होता है यह स्वाभाविक बात है, परन्तु इस स्वभावके अतिरिक्त स्त्रियोंमें जो रजोधर्मका विकाश होता है, यह बात असाधारण और विशेष है। रजोधर्म प्रकृतिकी विशेष प्रेरणा है। इसके द्वारा स्त्री गर्भधारण योग्या हो जाती है,यही प्राकृतिक इङ्गित है। और इसी इङ्गितके कारण रजस्वला होनेके समय अर्थात् ऋतुकालमें स्त्रियोंकी कामचेष्टा बहुत ही बलवती हुआ करती है, अतः उस समय स्त्रियोंमें विशेष चाञ्चल्य होना स्वाभाविक है। इसी स्वाभाविक प्रवृत्तिको केन्द्रीभूत करनेके लिये ही महर्षियोंने रजस्वलाके पहले विवाहकी आज्ञा की है क्योंकि ऐसा न होनेसे नैसर्गिकी कामेच्छा अवलम्बन न पाकर जहां तहां फैलकर पातिव्रत्यमें बहुत हानि कर सक्ती है। और जहां एक वार निरंकुशताका अभ्यास पड़ा, तहां पुनः उसे रास्तेपर लाना बहुत ही कठिन हो जाता है; क्योंकि स्त्री-प्रकृति चञ्चल होनेसे थकती नहीं है, अविद्याभावके विकाशके लिये थोड़ा भी अवसर मिलनेसे उसी भावमें रम जाती है और उसमें पुनः विद्याभावका विकाश करना बहुत ही कठिन हो जाता है। परन्तु मनुष्यकी प्रकृति ऐसी नहीं है, उसमें यौवन-सुलभ साधारण कामभाव रहता है, उसमें रजस्वला-दशाका विशेष भाव नहीं है, अतः उस साधारण भावका विकाश भी साधारणतः ही होता है एवं विशेष प्राकृतिक प्रेरणा स्त्रियोंकी तरह नहीं होती है, इसीलिये स्त्रियोंकी तरह, यौवनके उदयसे भोग्यभोक्ताभाव होते ही, उसी समय विवाह करनेकी प्रबल आवश्यकता उनके लिये नहीं होती है। इसके सिवाय पुरुषके चाञ्चल्यकी सीमा है और उसमें थकान है जिससे स्वभावतः ही पुरुष निवृत्त होकर अपने स्व-

रूपमें आसक्ता है। इसी प्रकारकी विशेष धर्म्मकी विभिन्नताके कारण ही महर्षियोंने स्त्री और पुरुषके विवाहकालमें भी भेद रक्खा है। द्वितीयतः पुरुषमें ज्ञानशक्तिकी अधिकता होनेसे साधारण कामभावको विचार द्वारा पुरुष रोक सक्ता है; परन्तु स्त्रीमें अज्ञानभावकी अधिकता होनेसे असाधारण प्राकृतिक प्रेरणाको रोकना बहुत ही कठिन हो जाता है। तृतीयतः यदि रोक भी न सकें तथापि पुरुषके व्यभिचारसे समाजमें और कुलमें इतनी हानि नहीं पहुंचती है जितनी हानि स्त्रीके व्यभिचारसे पहुंचती है। पुरुषके व्यभिचारका प्रभाव अपने शरीर ही पर पड़ता है, परन्तु स्त्रीके व्यभिचारसे वर्णसङ्कर उत्पन्न हो कर जाति, समाज और कुलधर्म्म सभीको नष्ट कर देता है। इन्हीं सब कारणोंसे स्त्रीके लिये रजस्वला होनेसे पहले ही विवाहकी आज्ञा की गई है और पुरुषके लिये अधिक वयःक्रम पर्य्यन्त ब्रह्मचारी होकर विद्याभ्यासकी आज्ञा की गई है। इसके सिवाय यदि पुरुष भी ब्रह्मचारी न रह सकें तो "धर्म्मे सीदति सत्वरः" अर्थात् धर्म्महानिकी सम्भावना होनेपर शीघ्र भी विवाह कर सकते हैं ऐसी भी आज्ञा मनुजीने दी है। अतः इन सब आध्यात्मिक तथा सामाजिक बातोंपर विचार करनेसे महर्षियोंकी आज्ञा युक्तियुक्त मालूम होगी। पातिव्रत्यधर्म्मके पालन किये विना स्त्रीका अस्तित्व ही वृथा है। इसलिये जिन कारणोंसे पातिव्रत्यपर कुछ भी धक्का लगनेकी सम्भावना हो, उनको पहलेसे ही रोककर जगदम्बाकी अंशस्वरूपिणी स्त्रीजातिकी पवित्रता और सत्त्वगुणमय विद्याभावकी मर्य्यादाकी ओर जब पूर्ण दृष्टि होगी तभी आर्य्यधर्म्मका पूर्ण पालन हो सकेगा।

विवाहके अनन्तर नारीजीवनकी दूसरी अर्थात् गृहिणी अवस्था प्रारम्भ होती है। कन्यावस्थामें पतिदेवतामें तन्मयतामूलक पवित्रतामय सती धर्म्मकी जो शिक्षा लाभ हुई थी, गृहिणी अवस्थामें उसी सतीधर्म्म या पातिव्रत्यका पालन होता है। जिस प्रकार श्रेष्ठ भक्त भगवान्के चरणकमलोंमें अपने शरीर, मन, प्राण और

आत्मा सभीको समर्पण करके भगवद्भावमें तन्मय होकर भगवान्को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार सती भी पतिदेवताके चरणकमलोंमें अपना जो कुछ है सो सभी समर्पण करके उन्हीमें तन्मय होकर मुक्ति प्राप्त करती है।

सतीत्वको महिमाको वर्णन करते हुए परम पूज्यपाद महर्षियोंने बहुत बातें लिखी हैं। मनुजीने कहा है किः—

प्रजनार्थं महाभागा पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषाऽस्ति कश्चन ॥

पतिं या नाऽभिचरति मनोवाग्देहसंयता ।
सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥

सन्तानप्रसव करनेके कारण महाभाग्यवती, सम्मानके योग्य और संसारको उज्ज्वल करनेवाली स्त्रीमें और श्रीमें कोई भेद नहीं है। जो स्त्री शरीर, मन और वाणीसे अपने पतिके सिवाय और किसी पुरुषसे सम्बन्ध नहीं रखती है वही सती कहलाती है। उसको पतिलोक प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्यजीने कहा है किः—

मृते जीवति वा पत्यौ या नाऽन्यमुपगच्छति ।
सेह कीर्तिमवाप्नोति मोदते चोमया सह ॥

पतिकी जीवितावस्थामें या मृत्युके बाद भी जो स्त्री अन्यपुरुषकी कभी इच्छा नहीं करती है उसको इहलोकमें यश मिलता है और परलोकमें उमाके साथ सतीलोकमें आनन्दमें रह सकती। दक्षसंहितामें लिखा है किः—

अनुकूला न वाग्दुष्टा दक्षा साध्वी प्रियंवदा ।
आत्मगुप्ता स्वामिभक्ता देवता सा न मानुषी ॥

जो स्त्री पतिके अनुकूल आचरण करती है, कटु वचन नहीं कहती है, गृहकार्य्योंमें दक्षा सती, मिष्टभाषिणी, अपने धर्मकी रक्षा करने वाली और पतिभक्ति परायणा है वह मानवी नहीं है परन्तु देवी है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराणमें कहा है किः—

सर्व्वदानं सर्व्वयज्ञः सर्व्वतीर्थनिषेवणम् ।
सर्व्वं व्रतं तपःसर्व्वमुपवासादिकञ्च यत् ॥
सर्व्वधर्म्मश्च सत्यञ्च सर्वदेवप्रपूजनम् ।
तत्सर्वं स्वामिसेवायाः कलां नाऽर्हन्ति षोडशीम् ॥

समस्त दान, समस्त यज्ञ, सकल तीर्थोंकी सेवा, समस्त व्रत, तप और उपवास आदि सब कुछ और सब धर्म्म, सत्य और देव-पूजा ये पतिसेवाजनित पुण्यका षोडशांश पुण्य भी उत्पन्न नहीं कर सकते हैं।

इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें सतीधर्मकी महिमा बताई गई है जिसके सम्यक् पालन द्वारा स्त्रीजाति अनायास ही अपनी योनिसे मुक्ति लाभ कर सकती है।

नारी जीवनकी तृतीय दशा वैधव्य है। प्रारब्ध कर्मके चक्रसे यदि सतीको विधवा होना पड़े तो इस वैधव्य दशामें पातिव्रत्यकी पूर्ण परीक्षा होती है। सतीत्वके परम पवित्र भावमें भावित सतीका अन्तःकरण वैधव्यरूप संन्यास दशामें परमदेवता पतिके निराकार रूपमें तन्मय होकर पातिव्रत्य धर्मकी पूर्णताका साधने और उद्यापन कराता है। इसीलिये यह तृतीय दशा परमगौरवान्वित तथा पवित्रतामय है। यह बात पहले ही सिद्ध की गई है कि भगवच्चरण-कमलोंमें भक्तोंकी तरह पतिके चरणकमलोंमें लवलीन होनेसे ही स्त्रीकी मुक्ति होती है। पतिव्रता सती पातिव्रत्यके प्रभावसे पतिलोक अर्थात् पञ्चमलोकमें जाकर पतिके साथ आनन्दमें मग्न रहती है। इस प्रकारकी तन्मयता द्वारा पातिव्रत्यकी पूर्णता होनेसे ही पुनर्जन्मके समय उनको स्त्रीयोनिमें नहीं आना पड़ता है। वह पापयोनिसे मुक्त हो निःश्रेयसपद उत्तम पुरुषदेहको प्राप्त करती है। उद्भिज्ज योनिसे लेकर उसको जो स्त्रीयोनि प्राप्त होना प्रारम्भ हुआ था, इस प्रकार पातिव्रत्यकी पूर्णतासे वह स्त्रीयोनिका प्रवाह समाप्त हो जाता है। आर्य्यमहर्षियोंने जो स्त्रीजातिको सकल

दशाओंमें ही एकपतिव्रतका उपदेश दिया है उसका यही कारण है। क्योंकि विना एकपतिव्रतके तन्मयता नहीं हो सकती। अनेकोंमें जो चित्त चञ्चल होता है उसमें तन्मयता कभी नहीं आ सकती है और विना तन्मयताके पातिव्रत्यकी पूर्णता नहीं हो सकती है एवं विना पातिव्रत्यकी पूर्णताके स्त्रीयोनि समाप्त होकर मुक्तिप्रद पुरुष-योनि प्राप्त नहीं हो सकती है। इसलिये गृहिणी और विधवाकी सकलदशामें ही महर्षियोंने एकपतिव्रतरूप धर्म्म पर इतना जोर दिया है। इस धर्म्मके विना स्त्रीका जन्मही वृथा है। कन्या-कालमें इस धर्म्मकी शिक्षा और गृहिणीकालमें इसका अभ्यास होकर विधवाकालमें इसकी समाप्ति होती है। इसलिये वैधव्यदशामें भी पातिव्रत्यका पूर्ण अनुष्ठान होकर मृत पतिकी आत्मामें अपनी आत्माका लयसाधन करना ही विधवाका एक मात्र धर्म्म है।

आर्य्यशास्त्रोंमें विवाह स्थूल शरीरके भोगमात्रको लक्ष्य करके नहीं रक्खा गया है; क्योंकि इस प्रकार करनेसे भोगस्पृहा बलवती होकर आर्य्यत्व मनुष्यत्व तकको नष्ट कर देगी और मनुष्यको पशुसे भी अधम बना देगी। आर्य्यजातिका विवाह भोगको बढ़ानेके लिये नहीं है; किन्तु स्वाभाविक और अनर्गल भोगस्पृहाको घटानेके लिये है। स्त्री अपनी स्वाभाविक पुरुष भोगेच्छाको अन्य सब पुरुषोंसे हटाकर एक ही पतिमें केन्द्रीभूत करती हुई उन्हींमें पातिव्रत्य द्वारा तन्मय हो मुक्त हो जायगी इस-लिये स्त्रीका विवाह है। पुरुष अपनी स्वाभाविक अनर्गल भोगेच्छा-को एकही स्त्रीमें केन्द्रीभूत करके उसी प्रकृतिको देखकर उससे अलग हो मुक्त हो जायँगे इसलिये पुरुषका विवाह है। स्त्रीके लिये एक ही पतिमें तन्मया होना धर्म्म है, उसमें एकके सिवाय दूसरा होनेसे एकाग्रता नहीं रहेगी, अतः तन्मयता नहीं होगी और मुक्तिमें बाधा हो जायगी इसलिये एकपतिव्रत स्त्रीके लिये परम धर्म है। स्त्रीके लिये इस प्रकारका द्वितीय विवाह धर्म्म नहीं हो सकता,

क्योंकि स्त्रीकी मुक्ति पुरुषसे अलग होकर नहीं होती है परन्तु पुरुषमें तन्मय तथा लय होकर ही होती है। यहाँ वही धर्म्म होगा जो लय करानेमें सुविधाजनक हो। एक-पतिव्रतके द्वारा एकाग्रता होनेसे ही तन्मयता हो सकती है, अनेक पतियोंमें वह एकाग्रता सम्भव नहीं है, अतः स्त्रीकी मुक्तिके लिये एक-पतिव्रत होना ही उसका एकमात्र धर्म्म है, बहु विवाह कदापि धर्म्म नहीं हो सकता है।

आर्य्यस्त्रीके विवाहमें पतिके साथ सम्बन्ध स्थूल सूक्ष्म तथा कारण तीनों शरीर और आत्माका भी होता है। इसलिये पतिके परलोक जानेपर भी स्त्रीके साथ सम्बन्ध नहीं टूटता है। क्योंकि मृत्यु केवल स्थूल शरीरका परिवर्त्तनमात्र है। सूक्ष्म तथा कारण-शरीर और आत्मामें परिवर्त्तन कुछ भी नहीं होता है। अतः आर्य्य-विवाह सूक्ष्मशरीर, कारणशरीर और आत्माके साथ होनेके कारण पतिके परलोक जानेसे भी नष्ट नहीं हो सकता है।

मनुसंहितामें लिखा है किः—

कामन्तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।
न तु नामापि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥
आसीतामरणात् क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी।
यो धर्म्म एकपत्नीनां कांक्षन्ती तमनुत्तमम् ॥
अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम्।
दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम् ॥
मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्य्यव्रते स्थिता।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥

पतिकी मृत्युके अनन्तर सती स्त्री पुष्प, मूल और फल खाकर भी जीवन धारण करे परन्तु कभी अपने पतिके सिवाय अन्य पुरुषका नामतक नहीं लेवे। सती स्त्रीकी मृत्यु जबतक नहीं हो तबतक क्लेशसहिष्णु, नियमवती तथा ब्रह्मचारिणी रहकर एक पतिव्रता सती स्त्रीका ही आचरण करे। अनेक सहस्र आकुमार ब्रह्मचारी

प्रजाकी उत्पत्ति न करके भी केवल ब्रह्मचर्य्यके बलसे दिव्य लोकमें गये हैं। पतिके मृत होनेपर भी उन कुमार ब्रह्मचारियोंकी तरह जो सती ब्रह्मचारिणी बनी रहती है उसको पुत्र न होनेपर भी केवल ब्रह्मचर्य्यके ही बलसे स्वर्ग लाभ होता है।

भारत यूरोप होकर उन्नत नहीं हो सकता और आर्य्य अनार्य्य होकर उन्नत नहीं हो सकते और आर्य सतियां विलायती मेमें बनकर उन्नत नहीं हो सकतीं; किन्तु सीता सावित्री बनकर ही उन्नत हो सकती हैं, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। इन्हीं सब कारणोंसे मनुजीने स्त्रीके लिये द्वितीय बार विवाह करना मना किया है। यथाः—

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददामीति त्रीण्येतानि सतां सकृत्॥

पैतृक सम्पत्ति एक ही बार विभक्त होती है, कन्या एक ही बार पात्रमें दान की जाती है और दान एक ही बार सकल वस्तुओंका हुआ करता है और सत्पुरुष इन तीनोंको एक ही बार करते हैं। और भी मनुस्मृतिमें—

"न विवाहविधावुक्तं विधवाऽऽवेदनं पुनः"

अर्थात् विवाहविधिमें विधवाका विवाह कहीं नहीं बताया गया है।

पहिले ही कहा गया है कि स्त्रीजातिमें अविद्याका अंश होनेके कारण पुरुषसे अष्टगुण अधिक काम होनेपर भी विद्याके अंशसे लज्जा और धैर्य बहुत कुछ है। अतः विधवाजीवन इस प्रकार बना देना चाहिये कि जिससे उनमें अविद्याका अंश नष्ट हो जाय और विद्याका अंश पूर्ण प्रकट हो जाय। आजकल जो विधवाएं बिगड़ती हैं उसमें शिक्षा तथा उनके साथ ठीक ठीक बर्तावका अभाव ही कारण है। विधवा होनेके दिनसे ही गृहस्थ लोग उनके लिये यह भाव उत्पन्न करने लगते हैं कि संसारमें उनके सदृश दुःखी और

हतभाग्य कोई नहीं है। ऐसा करना सर्वथा भ्रमयुक्त है। यह केवल विचारके विरुद्ध ही नहीं किन्तु शास्त्रके भी विरुद्ध है। आर्यशास्त्रोंमें भोगसे त्यागकी महिमा अधिक कही गई है। महाभारतमें लिखा है:—

यच्च काममुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नाऽर्हतः षोडशीं कलाम्॥

संसारमें कामजनित सुख अथवा स्वर्गमें उत्तम भोग-सुख ये दोनों ही वासनाक्षयजनित अनुपम सुखके सोलह भागोंमेंसे एक भाग भी नहीं हो सकते। श्रीभगवान्‌ने गीताजीमें कहा है:—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

विषयोंके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध हो जानेसे जो कुछ सुख होता है वह दुःखको उत्पन्न करनेवाला होनेसे दुःखरूप ही है और इस प्रकारके सुख आदि अन्तसे युक्त और नश्वर हैं इसलिये विचारवान पुरुष विषयसुखमें मत्त नहीं होते। संसारमें वही सच्चा सुखी और योगी है जिसने आजन्म काम और क्रोधके वेगको धारण किया है। महर्षि पतञ्जलिजीने भी परिणाम और ताप आदि दुःख होनेसे विषय-सुखको दुःखमय और निवृत्तिको सुख शान्तिमय कहा है। विधवाका जीवन संन्यासीका जीवन है। इसमें निवृत्तिकी शान्ति तथा त्यागका विमल आनन्द है। फिर विधवा स्त्री हतभागिनी क्यों कही जाती है? क्या त्याग करना हतभाग्य बननेका लक्षण है? सोचनेसे पता लगेगा कि निवृत्तिमें ही आनन्द है प्रवृत्तिमें नहीं। त्यागमें ही आनन्द है भोगमें नहीं और वासनाके क्षयमें ही आनन्द है वासनाके अधीन बननेमें नहीं। गृहस्थ विषयी होनेसे दुःखी हैं और संन्यासी विषय त्याग करनेसे सुखी हैं। जब

यही अवस्था विधवाकी है तो विधवा हतभागिनी है या वास्तवमें सुखी है सो विचारशील पुरुष सोच सकेंगे। विधवाका पुरुषके साथ कामभोग छूट गया इसलिये विधवा दुःखिनी हो गई यह बात बड़ी ही कौतुकजनक है। क्या कामके द्वारा किसीको सुख भी होता है ? आजतक किसीको कामके द्वारा सुख मिला था ? या किसी शास्त्रमें ऐसा लिखा भी है ? गीताजीमें कामको नरकका द्वार कहा है, आनन्दका द्वार नहीं कहा है। काम चित्तका एक उन्माद मात्र है। मनुष्य उस उन्मादमें फँस जाया करता है। परन्तु फँस जाकर सुखका भान होना और बात है और यथार्थ सुख प्राप्त होना और बात है। कामके द्वारा किसीको सुख प्राप्त नहीं होता। इसको विषयबद्ध गृहस्थ भी स्वीकार करेंगे क्योंकि वे भी चाहते हैं कि वासना छूटकर शान्ति हो जाय। परन्तु पूर्वजन्मका संस्कार अन्यरूप होनेसे वासना नहीं छूटती; इसलिये वे विषयोंमें मत्त रहते हैं, अपिच चित्त दुर्बल होनेके कारण विषयोंमें मत्त होनेसे ही विषय सुखकर हो जायंगे यह बात कोई नहीं कहेगा परन्तु विषय छूट जाने पर ही सच्चा सुख होगा यही बात सब लोग कहेंगे। जब विधवाको विषयोंको त्याग करके निवृत्तिके परमानन्द प्राप्त करनेका सुयोग मिला है तो विधवा दुःखिनी नहीं परन्तु सुखिनी है; गृहस्थ सधवा स्त्रियोंसे अधम नहीं किन्तु उनकी गुरु तथा पूज्या है। क्योंकि संन्यासी गृहस्थोंके गुरु तथा पूज्य होते हैं। आहार, निद्रा, भय, मैथुन ये पशु भी करता है, इसमें मनुष्यकी विशेषता क्या है ? लाखों जन्मसे यही काम होता आया है। यदि विधवा गृहस्थमें रहकर बालबच्चे उत्पन्न करती तो उन्हीं लाखों जन्मके किये हुए कामोंको और एक बार करती, परन्तु इसमें क्या धरा है ? इसलिये अनन्त जन्म तक संसारका दुःख भोगनेपर भी विषयी जीवको जो भगवान्का अलभ्य चरणकमल प्राप्त नहीं होता और जिसके लिये समस्त जीव लालायित होकर संसारचक्रमें घूम

रहे हैं उसी चरणकमलमें यदि भगवान्‌ने विधवाको संसारसे अलग करके शीघ्र बुलाया है और निवृत्ति सेवन करके नित्यानन्द प्राप्त करनेका अवसर दिया है तो इससे अधिक सौभाग्यकी बात और क्या हो सकती है ?

जब गृहस्थमें कोई स्त्री विधवा हो जाँय तो वहांके सब लोगोंका प्रथम कर्तव्य यह होना चाहिये कि विधवाको उनकी अवस्थाका गौरव समझा देवें। उनपर श्रद्धाके साथ पूज्यबुद्धिका बर्ताव करें। उनके पास गृहस्थाश्रमके अनन्त दुःख और विषय-सुखकी परिणाम-दुःखताका वर्णन करें और साथ ही साथ निवृत्तिमार्गपरायण होनेके कारण उनको कितना आनन्द, कितनी शान्ति और कितना सुख प्राप्त हो सकता है, इसका ध्यान दिलावें एवं उनकी स्थितिकी अपूर्वता तथा संसार बन्धन मोचनका सुयोग जो कि उनकी सङ्गिन गृहस्थ स्त्रियोंको न जाने कितने जन्ममें जाकर मिलेगा, सो उनको इसी जन्ममें मिल गया है अतः वे धन्य हैं तथा पूज्या हैं,इस प्रकारका भाव विधवाके हृदयमें जमा देवें। ऐसा समझा देनेसे विधवाको अपनी दशाके लिये दुःख नहीं होगा किन्तु सुख ही होगा, भोग न मिलनेसे दुःख नहीं होगा, संन्यासीकी तरह त्यागी बननेमें गौरव ज्ञात होगा, शम दमादि साधन क्लेशकर तथा दैवपीड़न ज्ञात नहीं होंगे परन्तु संयम और अनन्त आनन्दके सहायक प्रतीत होंगे। यही वैधव्य दशामें पातिव्रत्य रखनेका तथा अविद्याभावको दूर करके विद्या-भावके बढ़ानेका प्रथम उपाय है।संसारमें सुख दुःख करके कोई वस्तु नहीं है। भिन्न भिन्न दशामें चित्तके भिन्न भिन्न भावोंके अनुसार सुख दुःखकी प्रतीति होती है। एकही वस्तु एक भावमें देखनेसे सुख देने वाली और दूसरे भावमें देखनेसे दुःख देनेवाली हो जाती है। संसारीके लिये कामिनी, काञ्चन आदि जो सुख है, संन्यासीके लिये वही दुःख है और संन्यासीके लिये जो सुख है गृहस्थके लिये वही दुःख है। प्रवृत्तिकी दृष्टिसे देखने पर सांसारिक भोगकी वस्तुओंमें

सुख प्रतीत होने लगता है परन्तु वे ही सब वस्तु निवृत्तिकी दृष्टिसे देखे जाने पर दुःखदायी होने लगती हैं इसलिये विधवाओंके भीतर ऐसी बुद्धि उत्पन्न करनी चाहिये कि वे सांसारिक सभी वस्तुओंको निवृत्तिकी दृष्टिसे अकिञ्चित्कर तथा दुःखपरिणामी देखें,यही वैधव्य दशामें पातिव्रत्य पालनका द्वितीय उपाय है। विधवाकी हृदयकन्दरामें निहित पवित्र प्रेमधाराको हृदयमें ही बद्ध रखकर सड़ जाने देना नहीं चाहिये, किन्तु संन्यासीकी तरह उसे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' भावमें परिणत करना चाहिये। परिवारमें जितने बाल-बच्चे हैं सबकी माता मानो विधवा ही है इस प्रकारका भाव विधवाके हृदयमें उत्पन्न करना चाहिये। उनके हृदयमें निःस्वार्थ प्रेम तथा परोपकार प्रवृत्तिका भाव जगाना चाहिये। यही वैधव्य दशामें पातिव्रत्य रक्षाका तृतीय उपाय है। इसका चतुर्थ उपाय सबसे सहज और सबसे कठिन है। वह यह है कि पितृकुलमें यदि विधवा रहे तो उसके माता पिता और श्वशुरकुलमें रहे तो उसके सास ससुर जिस दिनसे घरमें स्त्री विधवा हो उसी दिनसे विलास क्रिया छोड़ देवें। ऐसा होनेसे घरकी विधवा कभी नहीं बिगड़ सकती। उसके सामनेका ज्वलन्त आदर्श उसके चित्तको कभी मलीन नहीं होने देगा। इसका पञ्चम उपाय यह है कि जिस घरमें विधवा हो वहांके सभी स्त्री पुरुष बहुत सावधानतासे विषयसम्बन्ध करें जिसका कुछ भी पता विधवाको न मिले। इसका षष्ठ उपाय सदाचार है। विधवा स्त्रियां आचारवती होवें, खान पान आदिके विषयमें सावधान रहें। विधवाको श्वेत वस्त्र पहिनना चाहिये और अलङ्कार धारण नहीं करना चाहिये; क्योंकि रंगीन वस्त्र और धातुका अलङ्कार स्नायविक उत्तेजना उत्पन्न करके विधवाके ब्रह्मचर्य्य व्रतमें हानि पहुँचा सकता है। इसमें वैज्ञानिक कारण बहुत हैं। उनको निर्लज्जा होकर इधर उधर घूमना नहीं चाहिये। नाटक देखना, जिसके तिसके मकान पर जाना और वैषयिक बातें करना और इस प्रकारकी तसबीर

या पुस्तक देखना कभी नहीं चाहिये। विधवाके खान पानकी व्यवस्था परिवारके स्वामी ही करें अन्य कोई न करें। जिस प्रकार देवताके नामपर आयी हुई वस्तु अन्य कोई नहीं खाते उसी प्रकार विधवाके लिये निर्दिष्ट वस्तुको कोई ग्रहण न करें। रातको एक दो शिशुके साथ विधवाको शयन करना चाहिये। विधवाको किसी बातकी आज्ञा करनी हो तो श्वसुर-सास, माता-पिता स्वयं ही करें, बन्धु-कन्या आदिके द्वारा कभी न करावे। उनको गृहकार्य्यमें उन्मुख करके सधवाओंकी सहचारिणी तथा उनपर कृपा करनेवाली बना देवें। विधवा कोई व्रत करना चाहे, तो उसी समय करा देना चाहिये, उसमें कृपणता कभी नहीं करनी चाहिये। अन्यान्य सधवाओंकी अपेक्षा विधवाके व्रतोद्यापनमें अधिक व्यय तथा आडम्बर रहना चाहिये। इसका सप्तम उपाय यह है कि बालविवाह और वृद्धविवाह उठा देना चाहिये। पूर्व कथनानुसार बालिकापनमें विवाह न कराकर रजस्वलासे पहिले ही करा देना चाहिये। पुत्र होनेपर भी अन्य कारणोंसे वृद्धावस्थामें विवाह नहीं करना चाहिये। इसका अष्टम उपाय यह है कि ब्रह्मचर्य्य और संन्यासाश्रममें पुरुषके लिये शारीरिक, वाचनिक और मानसिक जितने तपोंका विधान किया गया है और सात्त्विक भोजन, मनःसंयम, सदाचारपालन आदि जितने नियम बताये गये हैं उन सबोंका ठीक ठीक अनुष्ठान विधवाके लिये होना चाहिये। भगवद्भजन, शास्त्रचर्चा, वैराग्यसम्बन्धी ग्रन्थोंका पठन और मनन, पातिव्रत्यमहिमाविषयक ग्रन्थोंका विचार और आध्यात्मिक उन्नतिकारी ग्रन्थों तथा उपदेशोंका श्रवण और मनन होना चाहिये। गृहस्थदशामें पतिदेवताकी साकार मूर्तिकी उपासना थी, अब संन्यासकी तरह वैधव्य दशामें उनके निराकार स्वरूपकी उपासना द्वारा तन्मयता प्राप्त करनेसे मुक्ति प्राप्त होगी, यह अवस्था तुच्छ विषयसुखमें मत्त गृहस्थ नरनारियोंकी अवस्थासे उन्नत और गौरवान्वित है, सदा ही उनके

चित्तमें यह भाव विराजमान कराना चाहिये। जिस परमपति भगवान्‌की कृपासे प्रारब्धानुसार यह उन्नत साधन दशा प्राप्त हुई है उनके चरणकमलमें भक्तिके साथ नित्य वार वार प्रणाम तथा उनका नियमित ध्यान करना सिखाना चाहिये। इन सब उपायोंको अवलम्बन करनेसे घरमें विधवा स्त्री साक्षात् जगदम्बा स्वरूपिणी बन जाती है। उसकी अविद्या प्रकृति लय होकर विद्या प्रकृतिका पूर्ण प्रकाश हो जाता है। ऐसी विधवा स्वयं ही भोगवासना आनन्दके साथ त्याग कर देती है। विषयका नाम लेनेसे उसको घृणा आती है, गृहकार्य्यमें परम निपुण होती है, अतिथिसत्कार, अभ्यागत कुटुम्बी आत्मीय जनोंकी संवर्धना आदि कार्य्यको परम प्रेमके साथ करने लगती है, सबल नीरोग तथा तेजस्विनी हो जाती है, ईर्ष्या आदि दोषोंको त्याग करके सधवा स्त्रियोंके प्रति दयावती और गृहस्थके सन्तानोंके प्रति मातृवत्स्नेहशीला होती है। जिस संसारमें इस प्रकारकी विधवा विद्यमान है वहां एक प्रत्यक्ष देवी मूर्तिका अधिष्ठान समझना चाहिये। वहां पर सभी लोक ऋषि चरित्रके द्रष्टा तथा फलभोक्ता हैं और जहां इस प्रकारकी दृष्टि, भाव और फल भोग है वहाँ अदूरदर्शी व्यक्तियोंकी पाप और भ्रूणहत्याकी शङ्का तथा कल्पना कभी नहीं आ सकती। आर्य्यजाति ऐसी ही थी और यदि भारतको यथार्थ उन्नत करना हो तो ऐसे आदर्शकी ही प्रतिष्ठा करनी चाहिये। अन्य किसी आदर्शके द्वारा आर्य्यजाति अपने स्वरूप पर स्थित रहकर उन्नत नहीं हो सकती। अपने जातिगत आदर्शको त्याग करके अन्य देशके आदर्शके ग्रहण करनेकी चेष्टा करनेसे संस्कारविरुद्ध होनेके कारण 'इतो नष्टस्ततो भ्रष्ट' हो जायगा और आर्य्यजाति घोर अवनतिको प्राप्त हो जायगी। अतः आजकलके सभी नेताओंको इन सब नारीधर्म्मसम्बन्धीय विज्ञानोंका रहस्य समझकर यथार्थ उन्नतिके पुरुषार्थमें सन्नद्ध होना चाहिये।

आर्य्यधर्म ।

(६)

वर्णधर्म, आश्रमधर्म आदिकी तरह आर्यधर्म भी विशेष धर्मके अन्तर्गत है । इसमें आर्यजातिकी विशेषता, मौलिकता तथा अनार्यजातिके साथ पृथक्ता समझने योग्य है। आजकल आर्य तथा एरियन शब्दकी एकताके विषयमें अनेक प्रकारके वादानुवाद चल रहे हैं । इसलिये आर्यधर्मपर विचार करनेके पहले यह विषय अवश्य ही हृदयङ्गम करना चाहिये कि जिस प्रकार धर्म और रिलिजन ये दोनों शब्द एक नहीं हो सकते उसी प्रकार हमारे शास्त्रोक्त आर्य्यशब्द और पाश्चात्य एरियन शब्द ठीक एकार्थ-वाचक नहीं हैं । अब नीचे आर्यजातिके शास्त्रीय लक्षणपर विचार करते हुए इस विशेष धर्मका निर्णय किया जाता है ।

आर्यजातिके लक्षणके विषयमें हिन्दु शास्त्रमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। मीमांसा शास्त्रमें कहा है:—

उभयोपेताऽऽर्य्यजातिः ।

तद्विपरीताऽनार्य्या ।

जो जाति चतुर्वर्णधर्म्म तथा चतुराश्रमधर्मसे युक्त हैं वही आर्य्य-जाति है। वर्णाश्रमधर्म्मविहीन जाति अनार्य्य जाति है। इसके सिवाय धात्वर्थ तथा गुणानुसार भी आर्यजातिके अनेक लक्षण होते हैं। यथाः—गमन या व्याप्ति अर्थक 'ऋ' धातुसे ण्यत् प्रत्यय द्वारा आर्य शब्दके बननेके कारण वेदोंके भाष्यकार सायनाचार्यजीने आर्यजातिका यही लक्षण किया है कि जो जाति पृथिवीके अनेक स्थानोंमें जाकर अपनी कीर्ति-ध्वजाकी स्थापना करती थी वही आर्यजाति है । इस विषयमें महाभारतमें भी प्रमाण मिलता है ।

म्लेच्छाश्चाऽन्ये बहुविधाः पूर्वं ये निकृता रणे ।

आर्याश्च पृथिवीपालाः ।

पूर्व कालमें बहुत प्रकारकी अनार्य जातिको युद्धमें परास्त करके जो जाति पृथिवीकी अधिपति हो गई थी वही आर्यजाति है। यास्क मुनिने अपने प्रणीत निरुक्त ग्रन्थमें कहा है:—

आर्य ईश्वरपुत्रः ।

ईश्वर-पुत्रको आर्य कहते हैं। इस प्रकार आर्यजातिका लक्षण वर्णन करके उल्लिखित 'वीरता' के अतिरिक्त आध्यात्मिक पूर्णताका भी प्रमाण आर्यजातिके लिये प्रदर्शित किया है। तदनुसार किसीने 'ॠ' धातुका अर्थ इस प्रकार भी वर्णन किया है। यथाः—

अर्तुं सदाचरितुं योग्यः इति आर्यः ।

इस लक्षणके अनुसार न्यायपथावलम्बी, प्रकृताचारशील, कर्त्तव्यपरायण जाति ही आर्यजाति है ऐसा सिद्ध होता है। रामायणके द्वितीय काण्डमें लिखा है:—

योऽहमार्येण परवान् भ्रात्रा ज्येष्ठेन भामिनि ।

इस प्रकार कहकर महर्षि बाल्मीकिने आर्य शब्दके उपर्युक्त लक्षणका ही निर्द्देश किया है।

इसी प्रकारसे जहां जहां मनुजी महाराजने आर्य्य शब्दका प्रयोग किया है, वहां वर्णाश्रमसदाचारयुक्त मनुष्य जातिके अर्थ ही वह निश्चित होता है और इसी वर्णाश्रमसदाचार और आदर्श मनुष्यजनोचित कर्त्तव्य-परायणताके अनुसार स्मृतिमें आर्य्यजातिका निम्न लिखित लक्षण वर्णन किया है:—

कर्त्तव्यमाचरन् काममकर्त्तव्यमनाचरन् ।
तिष्ठति प्रकृताचारे स तु आर्य इति स्मृतः ॥

कर्त्तव्यपरायण, अकर्त्तव्यविमुख, आचारवान् पुरुष ही आर्य है। अतः उपर्युक्त समस्त लक्षणोंको मिलाकर यह सिद्धान्त हुआ कि, जो जाति वेदविधानानुसार सदाचारसम्पन्न, सकल विषयमें अध्यात्म लक्ष्ययुक्त, दोषरहित और चतुर्वर्ण तथा चतुराश्रम-धर्म-परायण है वही जाति आर्य्यजाति कहला सकती है। भारतभूमि इस

प्रकारसे सर्वगुणालंकृत आर्य्यजातिकी ही रमणीय प्राचीन निवास भूमि है जिसके लिये ऋग्वेदके प्रथम, तृतीय, चतुर्थ आदि मण्डलामें आर्यजातिकी गुणगरिमा वर्णित की गई है। यथाः—ऋग्वेदके तृतीयाष्टकके प्रथमाध्यायमें लिखा है।

अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्यायेति।

वामदेव ऋषिने अपने तपोबलसे अपनी आत्मामें सर्वात्मसत्ताका अनुभव करके कहा कि "मैंने प्रजापतिरूप होकर आर्य अङ्गिराको भूमिदान किया और इन्द्ररूप होकर हविर्दानकारी मनुष्योंको वृष्टिदान किया।" इस प्रकार भगवान्के निःश्वासरूपी अनादि वेदमें भी आर्यजातिकी गौरवकथा देखनेमें आती है।

आर्यजातिके शास्त्रोक्त लक्षणपर विचार करके अब आर्यधर्म वर्णन प्रसङ्गमें अनार्य्यसे आर्यकी विशेषता बताई जाती है। यह बात पहले ही कही गई है कि यास्कमुनिने आर्यजातिका लक्षण वर्णन करते समय उसको ईश्वरपुत्र कहा है। अनार्यजातिके साथ विशेषताके विषयमें आर्यजातिका यही एक प्रधान लक्षण है। जिस जातिकी जीवनप्रवाहिनी कल्याणवाहिनी होकर अमृतसिन्धुकी ओर नियमित गतिसे बहा करती है, जिस जातिकी समस्त चेष्टा, आचार, नित्य नैमित्तिक काम्य आदि समस्त कार्यके मूलमें अध्यात्म लक्ष्य ही रहता है, जो जाति खान पानसे लेकर जीवनसंग्रामका सकल पुरुषार्थ ही पारलौकिक कल्याण तथा मुक्तिलाभके लिये किया करती है वही जाति आर्यजाति है। और जिस जातिके किसी कार्यके मूलमें अध्यात्म लक्ष्य नहीं है, जो जाति मुक्तिको लक्ष्य करके कोई कार्य नहीं करती किन्तु स्थूल शरीरके वैषयिक विलासके लिये ही कार्य करती है, स्थूल संसारकी उन्नतिमें ही जिस जातिका पुरुषार्थ प्रारंभ और परिसमाप्त होता है, वही जाति हिन्दु शास्त्रके अनुसार अनार्य जाति है। हिन्दु शास्त्रमें आर्य्यजाति और अनार्य्यजातिका जो भेद वर्णन किया गया है सो मनुष्य-

जातिके किसी शारीरिक लक्षणके विचारसे नहीं किया गया है। वेदसम्मत शास्त्रोंमें आर्य्यजाति और अनार्य्यजातिका भेद मनुष्य-जातिके धार्मिक विचार और जीवनके लक्ष्यके अनुसार किया गया है। इस कारण हिन्दूशास्त्रके "आर्य्य" शब्द और पाश्चात्य साहित्यके "एरियन" शब्दमें आकाश पातालकासा अन्तर है।

संसारमें जीवनधारण कौन नहीं करता है। एक पशु भी प्रकृतिदत्त अन्नसे परिपुष्ट होकर अपनी निर्दिष्ट आयुको बिताया करता है। परन्तु यथार्थ आर्यसुलभ जीवनधारण वही है जिसमें आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त होकर अपना और जगत्का परम कल्याण साधन हो। अन्यथा प्रकृतिमाताका अन्न ध्वंस करके विषयके पङ्किल प्रवाहमें अपनी आत्माको डालकर जीवन बिताना अनार्य-सुलभ जीवनधारण है। बाल्यजीवन सार्थक तभी है, जब बाल्य-जीवनके सदाचरण तथा शिक्षा द्वारा यौवनजीवन धर्ममय और आत्मोन्नतिमय हो। यौवनजीवन सार्थक तभी है,जब यौवनजीवनके यथार्थ यापनके फलरूपसे वृद्धावस्थामें आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त हो। वृद्धावस्थाकी सार्थकता तभी है, जब वार्द्धक्यकी मुनि-वृत्तिके द्वारा पुनर्जन्म उन्नत हो जाय। इहलोककी सार्थकता तभी है, जब इहलोकके धर्मपुरुषार्थके द्वारा परलोक सुधर जाय। जन्म वही यथार्थ है, जिसके द्वारा पुनर्जन्मका निरोध होकर दुःखमय संसारमें जन्म-मरणका चक्र शान्त होजाय। मृत्यु वही यथार्थ है, जिसके कारण अमृतके अतलसिन्धुमें स्नान करके पुनर्मृत्युका निरोध हो। जीवनका एक मुहूर्त्त या एक अवस्था यदि दूसरे मुहूर्त्त या दूसरी अवस्थाकी उन्नतिका कारण हो तो वह मुहूर्त्त या वह अवस्था सार्थक है। अन्यथा सुखदुःखमय अनित्य संसार-में कौन नहीं जीता मरता है ? यही आर्यजातीय भावके अनुसार जीवनयात्राका विचार है। इससे विरुद्ध जो कुछ विचार है सो अनार्य्य विचार है। हम आर्य्य इसलिये हैं कि हम spiritual

हैं। हमारी जीवनगति material में प्रारम्भ होकर spiritual में जा समाप्त होती है। हमारे लिये mrteria lend नहीं है परन्तु spiritual end है और material means to that end है। हमारे पास material का कोई मूल्य नहीं है, यदि वह spiritual को बाधा देवे और उसका सहायक न होवे। तात्पर्य्य यह है कि आर्य्यजातिकी सब शारीरिक और मानसिक चेष्टा उसकी आत्माकी उन्नतिके लिये है। यदि ऐहलौकिक उन्नतिकी उसमें कुछ इच्छा भी हो तो सो भी आत्माकी उन्नतिकी सहायक होनी चाहिये। हमारा ब्रह्मचर्य-आश्रम तभी यथार्थमें ब्रह्मचर्याश्रम होगा, जब उसके द्वारा गृहस्थाश्रममें धर्ममूलक प्रवृत्ति करनेकी शिक्षा लाभ हो। हमारे गृहस्थाश्रमकी प्रवृत्ति तभी धर्ममूलक यथार्थ प्रवृत्ति होगी, जब उसके द्वारा वानप्रस्थ और संन्यास आश्रममें पूर्ण निवृत्तिकी सहायता हो। हमारा वानप्रस्थाश्रम तभी सार्थक होगा, जब उसके द्वारा संन्यासकी सिद्धि हो। हमारा संन्यास आश्रम तभी सत्यसंन्यास होगा, जब उसके द्वारा निःश्रेयस पदवीपर प्रतिष्ठा लाभ हो; अन्यथा ब्रह्मचारी बनकर कपटाचारी होना, गृहस्थ बनकर घोर विषयी होना, वानप्रस्थ होकर ऊपरका आडंबर मात्र बताना और संन्यासी होकर असंयमी और प्रच्छन्न विषयी होना अनार्य भाव है। हमारा होम यदि केवल स्थूल प्रकृतिपर प्रभाव डालकर वायुशुद्धि मात्र करके शक्तिहीन हो जाय तो इस प्रकारका होम आर्योंका होम नहीं कहा जा सकता। आर्य्यलक्षणयुक्त होम तभी होगा जब अग्नि-समर्पित होम अग्निमुख देवताओंके साथ अधिदैवसम्बन्ध स्थापन करके अधिदैवशक्तिकी प्रसन्नता तथा सम्वर्द्धनाके द्वारा संसारमें धन, धान्य, पशु, प्रजा, शक्ति, सुख और समृद्धिकी वृद्धि करेगा। जैसा कि मनुजीने कहा है:—

अग्नौ प्रस्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

अग्निमें प्रक्षिप्त आहुति सूर्यात्माको प्राप्त होती है और इस प्रकार समस्त दैवीशक्तिके मूलरूप सूर्यात्माकी तृप्ति होनेसे प्रसाद-फलरूप वृष्टि, वृष्टिसे अन्न और अन्नसे प्रजाकी उत्पत्ति होती है। यही यथार्थमें आर्य्यहोम है। संसारमें दग्धोदर पूर्त्तिके लिये भोजन कौन नहीं करता है; परन्तु आर्य्यभोजन केवल उदरपूर्तिके लिये नहीं है, अधिकन्तु वैश्वानरको आहुति प्रदान द्वारा उनका तृप्तिसाधन करनेके लिये है। यदि आर्यजाति केवल रसनेन्द्रियकी तृप्ति और विलासलोलुपताके लिये भोजन करे तो इस प्रकारका भोजन अनार्यभोजन होगा। आर्य्यजातिका भोजन स्थूल शरीरकी रक्षाके लिये है और स्थूलशरीरकी भी रक्षा केवल सूक्ष्मशरीरकी रक्षाके द्वारा आत्मोद्धार करनेके लिये है। श्रीभगवान्ने गीताजीमें कहा है:—

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायेभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

यज्ञद्वारा परितुष्ट होकर देवतागण धनादि भोग्यवस्तु प्रदान करेंगे; परन्तु उनके द्वारा प्रदत्त वस्तुओंको उन्हें निवेदन न करके जो भोजन करता है वह चोर है। यज्ञावशिष्ट अन्न प्रसादरूपसे भोजन करनेपर समस्त पापसे जीव निर्मुक्त होता है। केवल अपनी उदरपूर्त्तिके लिये भोजन करना पापभोजन मात्र है। इस प्रकार सकल अन्नको भगवान्के समर्पण करके प्रसाद भोजन करना ही आर्यजातीय भोजन है; क्योंकि भोजनमें प्रसादबुद्धि उत्पन्न होनेसे भोगबुद्धि नष्ट होती है और इस प्रकार भोजनके प्रति लोभ उत्पन्न न होनेसे भोग्यवस्तुके द्वारा बन्धन प्राप्त नहीं होता है और प्रसाद बुद्धिके फलसे पापनाश, शान्ति तथा आत्मोन्नति होती है। आर्य्यजातिका भोजन इष्टदेवकी सेवाके अर्थ निवेदित होकर--

अतिथि सेवा, पोष्यवर्गकी सेवा आदि द्वारा पवित्र होकर—केवल शरीररक्षाके लिये ग्रहण करने योग्य है। यही आर्य्यजातिका भोजन है। जिस भोजनमें ये सब लक्षण न पाये जायं वह अनार्य्य भोजन है। संसारमें अर्थ-लालसा-परायण होकर समस्त पुरुषार्थ-शक्तिको धनसम्पत्तिवृद्धिके लिये प्रयोग करके उसीको जीवनका लक्ष्य बनाना, आर्यभावसुलभ लक्ष्य नहीं है; क्योंकि जहांपर स्थूल शरीरकी रक्षा आत्मोन्नतिसाधन मात्रके लिये है, स्थूल वैषयिक तृप्तिके लिये नहीं है, वहां पर धनसम्पत्ति—संग्रह जीवनका लक्ष्य नहीं हो सकता। जिस जातिमें पूज्यतम तथा श्रेष्ठतम पुरुष वे माने जाते हैं जिन्होंने गीतोक्त 'समलोष्टाश्मकाञ्चन' भावको प्राप्त किया है और जिनके सामने समस्त संसारकी सम्पत्ति तुच्छ है, इस प्रकार त्यागकी महिमा जिस जातिमें सर्वोपरि गाई गई है, उस जातिमें अर्थप्रियता कब जातीय आदर्श हो सकती है? इसलिये आर्यजातिका अर्थोपार्ज्जन विषयविलासके लिये नहीं है किन्तु शरीरयात्रानिर्वाह तथा परोपकार साधनके लिये है। इससे विपरीत आदर्श अनार्य जातीय है।

भावकी कैसी अपूर्व महिमा आर्यजातीय जीवनमें प्राप्त होती है। आर्यजाति नीचसे नीच कार्यको भी भाव-शुद्धि द्वारा धर्ममय तथा अमृतमय बना सकती है। भावजगत्की यह अपूर्वता पुण्यश्लोक आर्यजातिमें ही प्राप्त हो सकती है, अन्यत्र कहीं नहीं। काम जैसा प्रबल शत्रु, कामक्रिया जैसी पाशविक क्रिया, संसारमें और क्या हो सकती है? परन्तु जिस कार्यके साथ सृष्टि विस्तार तथा प्राकृतिक प्रेरणाका सम्बन्ध है उसे एकाएक त्याग करना जीवके लिये असम्भव है इसलिये जिस पाशविक कार्यको त्याग नहीं कर सकते हैं, उसमें भावशुद्धि द्वारा पशुभावका अंश नष्ट करनेका प्रयत्न किया गया है। यही आर्यजातीय भावशुद्धिका लक्षण है।

आर्य्यजातिका विवाह कामके तरंगमें इन्द्रिय और चित्तवृत्तिको डाल कर पशुभाव प्राप्त करनेके लिये नहीं है, किन्तु स्वाभाविक विषय स्पृहाको नियमबद्ध करके धीरे धीरे उसे नष्ट करके निवृत्तिसेवी बननेके लिये है। आर्यजातिका गृहस्थाश्रम अनर्गल भोगविलास-में लिप्त होनेके लिये नहीं है, किन्तु प्रारब्धकर्मजनित भोग-संस्कार-को निर्बीज करके संन्यासाश्रमकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये है। आर्यजातिमें पतिपत्नीसम्बन्ध कामका क्रीतदास बननेके लिये नहीं है, किन्तु गर्भाधान संस्कारके अनुसार धर्मविरुद्ध कामके द्वारा संसारमें धार्मिक पुत्र उत्पन्न करनेके लिये है। यही आर्यजातिकी अनार्यजातिसे विशेषता है। इस प्रकार सकल कार्योंमें आध्यात्मिक भावका पोषण करके आर्यजाति अपने जीवनको उपासनामय तथा ज्ञानमय बनाती है। उसकी सकल इन्द्रियोंकी गति अध्यात्मसिन्धु-की ओर और बुद्धिवृत्तिकी गति ज्ञानार्णवकी ओर होजाती है। आर्यनेत्र गंगा यमुनाकी धाराओंमें भगवान्‌की प्रेमधाराको निरीक्षण करते हैं, हिमालयके विराट् शरीरमें भगवान्‌की विराट् मूर्तिका दर्शन करते हैं, समुद्रके अनन्त विस्तार तथा गम्भीरतामें भगवान्‌की अपार उदारता और अनादि अनन्त शक्तिका परिदर्शन करते हैं। पुष्पोंके अविश्रान्त विकाशमें आनन्दकन्द भगवान्‌की आनन्द सत्ता देखना, वसन्त तथा वर्षाके प्राकृतिक सौन्दर्यमें चिदानन्दकी लहरें निरीक्षण करना और नक्षत्रमय गम्भीर अमानिशाके गगनमें दिव्यज्योतिर्मय भग-वद्भजनावलीका निरीक्षण करना, आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त जगत्‌की गतिको शान्तिमय सच्चिदानन्द समुद्रकी ओर उपासनाकी अनन्त नदियोंकी गतिके रूपसे देखना और देखते देखते भावसिन्धुके उमड़ आनेसे भावमय विराट् भगवान्‌के अनन्तस्वरूपमें सान्त देह, मन और प्राणको विलीन करके निःश्रेयसपद प्राप्त करना आर्यनेत्रोंका यथार्थ दर्शन और चरम परिणाम है। आर्यजातिके कर्ण कोलाहलमय संसारके अनन्तनादमें व्याकुल नहीं हो जाते हैं; किन्तु सकल नादों-

के मूलमें ओंकारके अविच्छिन्न मधुर गम्भीरनादको सुनते हैं, जाह्नवी और यमुनाके तरङ्ग तरङ्गमें श्रुतिमोहन संगीतका आस्वादन करते हैं। प्रभातके विहङ्गगानमें तथा भ्रमरोंके गुन गुन गुञ्जनमें भगवान्का स्तुतिगान सुनते हैं, यही आर्यकर्णोंकी विशेषता है। आंखोंमें दूरवीक्षण या अणुवीक्षण यन्त्रका संयोग हो जाय, कर्णेन्द्रियकी शक्ति वैज्ञानिक यन्त्रके योगसे वृद्धिगत हो जाय, परन्तु यदि आर्य-नेत्र संसारके समस्त दृश्यकी विलासकलामें भगवल्लीला-माधुरीका निरीक्षण न कर सकें या आर्यकर्ण दशदिशाओंमें श्रीकृष्ण परमात्मा-की मधुर वंशीध्वनिको न सुन सकें, तो भारतमाताके अङ्कमें इस प्रकार आर्यगुणहीन सन्तानकी उत्पत्ति ही वृथा भारमात्र है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं। संसारके सकल भावोंके मूलमें भगवद्भाव-का अनुभव करना ही आर्य मनकी आर्यता है। संसारकी सकल सत्ताओंमें ब्रह्मसत्ताकी उपलब्धि करना ही आर्यबुद्धिकी चरिता-र्थता है। जब आर्यजाति अपनी जीवनगतिको इस प्रकारके आदर्श-के अनुकूल बना सकती है, तभी वह स्पर्द्धाके साथ भगवान् शङ्करकी वाणीसे कह सकती है:—

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहम्
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः।
सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो
यद् यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो! तवाराधनम्॥

हे भगवन्! आप आत्मा हैं, जगदम्बा मति हैं, पंचप्राण सहचर हैं और शरीर गृह है। समस्त विषयभोग भोगके लिये नहीं हैं किन्तु आपकी पूजाके लिये हैं। निद्रा तमोगुणकी परिणाम-रूप नहीं है किन्तु समाधिरूप शान्तिमें विश्राम और आनन्दभोग रूप है। इतस्ततः भ्रमण आपकी अनन्त मूर्तिकी प्रदक्षिणा रूप है। समस्त वाणी आपकी स्तुति रूप है और समस्त कर्म विषयविलास-मय संसारमें भोगप्रवृत्तिके लिये नहीं हैं किन्तु आपकी आराधना

रूप हैं। इस प्रकार समस्त कार्य, समस्त चेष्टाएं और समस्त चित्तवृत्तियां जब भगवत्कार्य तथा भगवद्भावमें ही भावित हो जाती हैं, तभी आर्यजीवन उपासनामय होकर आध्यात्मिक उन्नतिकी चरमसीमामें पहुंच सकता है। यही कल्याणवाहिनी आर्य्यजीवनतरंगिणीकी सच्चिदानन्द समुद्रकी ओर अविराम गति है और यही अनार्य जातिसे आर्यजातिकी विशेषताका एक प्रधान लक्षण है।

अनार्यजातिसे आर्यजातिकी विशेषताका द्वितीय लक्षण आर्यजातिका सदाचार है। श्रुति स्मृति तथा पुराणोंमें जितने प्रकारके सदाचार वर्णन किये गये हैं उनके मूलमें स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरके उन्नतिकर किस प्रकार वैज्ञानिक तत्त्व भरे हुए हैं और उनके सम्यक् प्रतिपालनसे शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति किस प्रकारसे हो सकती है इसका पूरा वर्णन अगले किसी अध्यायमें किया जायगा। आर्य्यजातीय जीवनके प्रत्येक कार्यके साथ धर्मका अतिघनिष्ठ सम्बन्ध रहनेसे प्रथम धर्मरूप आचारका प्रतिपालन करनेमें ही आर्यका आर्यत्व है इसमें सन्देह नहीं। बहिःप्रकृति अन्तःप्रकृतिकी धात्री है। बहिःप्रकृतिमें आर्यभाव न रहनेसे अन्तःप्रकृतिमें आर्यभाव नहीं रह सकता। बहिःप्रकृतिको आर्यभावयुक्त रखनेके लिये जो कुछ प्रक्रिया तथा अनुष्ठान हैं वही सदाचार कहलाता है। स्थूल दृश्यजगत्में सर्वत्र ही देखा जाता है कि, एक जातिके साथ अन्य जातिकी प्रत्यक्ष विशेषता आचारकी विशेषताके द्वारा ही निर्णीत हुआ करती है। आचारकी स्थितिके द्वारा ही एक जाति अन्य सब जातियोंके बीचमें अपनी पृथक् सत्ताको स्थिर रखनेमें समर्थ होती है। जो जाति अपने परम्परागत आचारका त्याग कर देती है अथवा अन्यजातीय आचारोंको मानकर अपने जातीय आचारोंके प्रति उपेक्षा करती है, वह जाति धीरे धीरे अपनी स्वतन्त्र सत्ताको खोकर अन्य जाति, जिसका कि वह अनुकरण करती है, उसीमें लय हो जाती है। पृथिवीके इतिहासके पाठ करनेसे विदित होगा

कि इसी प्रकार अनेक विजित जातियां अपने आचारोंको छोड़ विजेता जातिके आचारोंका पालन करती हुई अन्तमें उसीमें लय हो गई हैं, परन्तु आर्यजातिपर इतनी बार विदेशीय जातियोंका आक्रमण होनेपर भी आजतक जो यह जाति अपनी स्थितिके रखनेमें समर्थ हुई है इसमें आर्यजातिका सदाचारपालन ही मुख्य कारण है। आर्यजातिमें आध्यात्मिक जीवनकी पूर्णता होनेसे स्थूल आचारकी पूर्णता होना स्वाभाविक है और इसलिये सदाचारपालन अनार्यजातिसे आर्यजातिकी विशेषताका एक लक्षण है।

अनार्यजातिसे आर्यजातिकी विशेषताका तृतीय लक्षण आर्यजातिका वर्ण तथा आश्रमधर्म है। आर्य्यजातिमें वर्णधर्म और आश्रमधर्मका बन्धन नहीं रहे तो वह आर्यभावापन्न नहीं रह सकती। यह बात वर्णधर्मके अध्यायमें पहले ही सिद्ध हो चुकी है कि आर्यजातिमें प्राकृतिक पूर्णता होनेसे त्रिगुणानुसार चातुर्वर्ण्यकी यथावत् स्थिति रहना इसमें स्वाभाविक है। इसी स्वभावसिद्ध नियमके अनुसार अनादिकालसे यह जाति अपनी आर्यभावमूलक जातीयताके अटल रखनेमें समर्थ हुई है और आज भी इतने दुर्दिनके समय चातुर्वर्ण्यकी बीजरक्षा द्वारा सनातन आर्यत्वकी बीजरक्षा कर रही है। जातितत्त्वके विज्ञानोंपर संयम तथा घोर विचार करनेवाले लोग अवश्य ही कहेंगे कि प्राकृतिक वर्णव्यवस्थाके बिना कोई भी जाति बहुत वर्ष पर्यन्त पृथिवीपर अपनी स्वतन्त्र सत्ताके रखनेमें समर्थ नहीं हो सकती और दिन दिन अधोगतिको प्राप्त होकर नष्ट हो जाती है या अन्य किसी जातिमें लय हो जाती है। इसी प्राकृतिक नियमके अनुसार आर्यजाति भी यदि वर्णधर्मका पालन करना छोड़ दे, तो वह भी आर्यभावसे च्युत होकर अनार्यभावापन्न हो जायगी जिससे और भी अधःपतित होकर अन्तमें नष्ट हो जायगी। त्रिगुणमयी प्रकृतिकी विलासस्थली भारतभूमिमें पूर्णप्रकृतियुक्त आर्यजातिका पूर्ण नाश होना असम्भव और विज्ञानविरुद्ध है क्योंकि यहांपर त्रिगुण-

का विकाश स्वतः हो रहनेसे वर्णधर्मकी बोजरक्षा प्रबल तमोगुणके कालमें भी अवश्य ही होगी, तथापि वर्णव्यवस्थाके बिगड़ जानेसे आर्यजाति बहुत ही हीन दशाको प्राप्त हो जायगी और उसमेंसे अनेक मनुष्य अनार्य हो जायंगे इसमें कोई सन्देह नहीं है। यह बात पहले ही मनुसंहिता और महाभारतके प्रमाणके साथ ग्रन्थान्तरमें कही गई है कि क्रियालोपके कारण कितने ही आर्यसन्तान अनार्य बनकर पृथिवीके भिन्न भिन्न प्रान्तोंमें बस गये हैं। अब नीचे वर्णव्यवस्थाके साथ आर्यजातिकी सत्ताका क्या सम्बन्ध है सो बताया जाता है। समष्टि सृष्टि तथा व्यष्टि सृष्टिका विचार करनेपर सिद्धान्त होता है कि दोनों सृष्टिकी प्रवृत्ति निम्नगामिनी है। समष्टि सृष्टिकी प्रवृत्ति निम्नगामिनी होनेसे प्रथम सत्ययुग, तदनन्तर त्रेता, द्वापर और कलियुग होते हैं और उसीके अनुसार समष्टि सृष्टिमें पहले सनकादि पूर्णपुरुष तथा केवल ब्राह्मण उत्पन्न होकर पश्चात् अन्यान्य जातियां उत्पन्न होती हैं। सृष्टिकी धारा अधोमुखिनी होनेसे नोच प्रारब्धयुक्त जीव क्रमशः उत्पन्न होते रहते हैं। इसी तरह व्यष्टि सृष्टिमें भी प्रकृतिके अधीन होनेके कारण उद्भिज्जसे लेकर पशुयोनि पर्यन्त जीव क्रमोन्नति प्राप्त करता है और मनुष्ययोनिमें स्वतन्त्रता प्राप्त करते ही उसकी वह उन्नति रुक जाती है और उसकी प्रवृत्ति इन्द्रियकी ओर होनेसे पुनः नोचेकी ओर होने लगती है। वर्णधर्म समष्टि सृष्टि और व्यष्टिसृष्टि इन्हीं दोनों निम्नगामिनी प्रवृत्तियोंको रोकता है इसीलिये—

"प्रवृत्तिरोधको वर्णधर्मः"

वर्णधर्म प्रवृत्तिका रोधक है ऐसा कर्ममोमांसामें सिद्धान्त किया गया है। वर्णव्यवस्थाके द्वारा सृष्टिकी अधोमुखिनो दोनों प्रवृत्तियां रुककर उनकी ऊर्द्ध्वगति बनी रहती है। जिस प्रकार कौशलके साथ बांध बांधकर फैलनेवाली नदीका प्रवाह रोका जाता है, उसी प्रकार चातुर्वर्ण्यरूपी बांधके द्वारा जीवकी पाशविक प्रवृत्ति रोकी जाती है। पहले ही कहा गया है कि सृष्टिके प्रारम्भमें यद्यपि

सभी ब्राह्मण थे और सत्त्वगुणका भी पूर्ण विकाश था, तथापि कालान्तरमें सृष्टिकी धारा नीचेकी ओर चलनेके कारण जब रजोगुण तथा तमोगुणके प्रभावसे जीवकी गति पापकी ओर होने लगी, तब उस पापप्रवणताको रोकना भी परम कर्त्तव्य हो गया। यदि सृष्टिकी वह नीचेकी ओर चलनेवाली पापप्रवण धारा न रोकी जाती तो सभी जीव पापी बनकर अपने आर्यगुणसे भ्रष्ट हो अनार्य बन जाते और भारतवर्षकी यह चिरन्तन मर्यादा नष्ट हो जाती इसलिये सृष्टिकी उस विषम धाराको रोककर जीवकी क्रमोन्नतिका बाधारहित करनेके लिये ही श्रीभगवान् मनुजीने चार वर्णरूप बन्ध बांध दिये। मनुजीने किस प्रकार मनुष्योंकी स्थूल, सूक्ष्म, कारण प्रकृतिको देखकर चातुर्वर्ण्यकी व्यवस्था उस समय की थी यह वर्णव्यवस्थाके अध्यायमें स्पष्टरूपसे बताया गया है। अब इन सब विचारोंसे यह सिद्धान्त निश्चय होता है कि जब समष्टि सृष्टिकी धारा स्वभावतः ही नीचेकी ओर है और वर्णव्यवस्थाके द्वारा उसमें रुकावट हो जाती है, तो जिस जातिमें वर्णव्यवस्था न होगी वह जाति क्रमशः प्रकृतिकी निम्नगामिनी धारामें पड़कर अधोगतिको प्राप्त हो जायगी और अन्तमें अधोगतिकी पराकाष्ठा होनेसे वह जाति नाशको प्राप्त हो जायगी अथवा और किसी उन्नत जातिमें लय हो जायगी। पृथिवीका इतिहास पाठ करनेपर वर्णधर्मविहीन कई एक जातियोंका इसी प्रकार परिणाम दृष्टिगोचर होता है। जिस समय प्राचीन रोमके नाशका समय आया था, उस समय रोममें भी भीषण पापका प्रवाह बहने लग गया था जिससे रोम अधोगतिकी पराकाष्ठाको प्राप्त होकर नष्ट हो गया। इसी प्रकार ग्रीस, मिश्र और ब्रिटेनकी कई एक जातियोंका परिणाम पृथिवीके इतिहासमें स्पष्ट है। ऐतिहासिक विद्वान्गण पृथिवीका इतिहास पाठ करनेसे एकवाक्य होकर स्वीकार करते हैं कि सिवाय वर्णाश्रमधर्मयुक्त आर्यजातिके और कोई भी प्राचीन जाति इस समय अपने स्वरूपमें जीवित नहीं है।

रोम, ग्रीस, मिशर आदि अनेक प्राचीन जातियोंके नाम इतिहासमें मिलते हैं, परन्तु उन जातियोंके अस्तित्वका साक्षी देनेवाला एक भी मनुष्य इस समय विद्यमान नहीं है। दूसरी ओर वर्णधर्म माननेवाली आर्यजाति अब भी अपने स्वरूपमें विद्यमान है अतः उपर्युक्त सिद्धान्तसे निश्चय होता है कि वर्णव्यवस्थाके प्रवृत्तिरोधक बन्धनके बिना संसारमें कोई भी जाति चिरस्थायी नहीं हो सकती, किन्तु प्रवृत्तिके प्रवाहमें बहकर अपनी जातीयताको कालसमुद्रमें डुबा देती है। व्यष्टि सृष्टिमें उद्भिज्जसे लेकर पशुयोनि पर्य्यन्त जीवकी क्रमोन्नति बाधारहित होने पर भी जब मनुष्ययोनिमें आकर जीवकी गति इन्द्रियासक्ति बढ़ जानेके कारण पुनः नीचेकी ओर होने लगती है, तब वर्णव्यवस्थाका बन्धन ही जीवकी इस अवनतिकी सम्भावनाको रोककर उसे प्राकृतिक उन्नतिशील प्रवाहमें डालकर धीरे धीरे शूद्रयोनि तक पहुंचाता है और अन्तमें सत्त्वगुणकी पूर्णताके द्वारा निःश्रेयस (मुक्ति) पदवीपर उसको प्रतिष्ठित करता है। यदि वर्णव्यवस्थाका प्रवृत्तिरोधक बन्ध न होता तो मनुष्ययोनिमें आकर जीव पुनः नीचेकी ओर जाने लगता। उसकी उन्नति न होकर उसे पुनः पश्वादि योनियोंकी प्राप्ति होती, जीव मनुष्यत्व पदसे गिरकर मूढ़ योनिको प्राप्त करता अतः सिद्धान्त हुआ कि समष्टिसृष्टिकी तरह व्यष्टिसृष्टिमें भी वर्णव्यवस्थाके न होनेसे कोई मनुष्यजाति चिरस्थायी नहीं हो सकती और निवृत्तिकी तो बात ही क्या, जिस जातिमें वर्णव्यवस्था नहीं है, उस जातिमें प्रवृत्तिके रोकनेका कोई भी उपाय न होनेसे जीवन प्रवृत्तिमय हो जाता है। उस जातिकी आध्यात्मिक उन्नति तथा मुक्ति ही नहीं किन्तु स्थूल शरीरका भोगमात्र ही लक्ष्य हो जाता है जिससे वह जाति आर्यत्वके लक्षणसे च्युत होकर अनार्य हो जाती है। इसलिये अनार्यसे आर्यकी विशेषताके जितने लक्षण हैं उनमेंसे वर्णव्यवस्था भी एक लक्षण है। वर्णव्यवस्थाके न रहनेसे प्रत्येक जाति आध्यात्मिक अवनतिको प्राप्त करके पशुकी तरह

बन तो जायगी ही अधिकन्तु और भी गंभीर विचार करने पर यही सिद्धान्त निकलेगा कि वर्णव्यवस्थाके न रहनेसे कोई भी जाति संसारमें बहुत दिनों तक जीवित नहीं रहेगी। अब नीचे इस सिद्धान्तका कारण बताया जाता है।

प्रकृतिके राज्यमें प्रत्येक वस्तुको स्थिति तभी तक रह सकती है जबतक व्यापक प्रकृतिके साथ उस वस्तुका सम सम्बन्ध हो। जिस वस्तुके साथ व्यापक प्रकृतिका समसम्बन्ध नहीं, उलटा विषम सम्बन्ध है, वह वस्तु बहुत दिनों तक प्रकृतिके राज्यमें रह नहीं सकती। उसका या तो समूल नाश हो जाता है या किसी समप्रकृतियुक्त वस्तुमें लय हो जाता है। व्यापक प्रकृतिकी यह एक अकाट्य तथा नित्य स्थिर नीति है। उसी नीतिके अनुसार विचार करनेसे यही सिद्धान्त होगा कि उद्भिज्जसे लेकर मनुष्य पर्य्यन्त समस्त जातियोंमें समप्रकृतिक जाति ही जीवित रहेगी, विषमप्रकृतिक जाति कुछ दिनोंके बाद नष्ट हो जायगी या किसी समप्रकृतिक जातिमें मिल जायगी। दृष्टान्तरूपमें समझ सकते हैं कि घोड़े और गधेके सम्बन्धसे जो एक अश्वतर (खच्चर) की जाति बनती है, उसकी प्रकृतिका मेल न तो घोड़ेसे और न गधेसे होनेके कारण वह एक विषम प्रकृतिकी पशु जाति है। उसके साथ प्रकृतिकी सम धाराका मेल नहीं है और इसलिये उपर्युक्त विज्ञानके अनुसार अश्वतरकी जाति जीवित नहीं रह सकती। इस बातको सभी लोग जानते हैं कि अश्वतरी (खच्चरी) का वंश नहीं चलता। एक ही जन्मके बाद वह वंश लुप्त हो जाता है। यह सब उपर्युक्त प्राकृतिक विज्ञानके अनुसार विषम प्रकृति होनेका ही परिणाम है। पशुजातिकी तरह ऊद्भिज्ज तथा अण्डजजातिमें भी यही प्राकृतिक नियम दृष्टिगोचर होता है। दो विभिन्न जातिके उद्भिज्जके सम्बन्धसे जो वृक्ष बनाया जाता है या दो विभिन्न जातिके पक्षियोंके मेलसे जो पक्षीजाति बनायी जाती है, उसका वंश आगे नहीं चलता। यह

प्रकृतिकी विषम धारामें उत्पन्न होनेका प्राकृतिक परिणाम है। इस दृष्टान्त और विज्ञानको मनुष्य जातिमें घटा कर विचार करनेसे यही सिद्धान्त निकलेगा कि दो विभिन्न वर्णोंके मेलसे जो वर्णसङ्कर जाति उत्पन्न होगी वह प्रकृतिकी समधारामें स्थित न होनेके कारण बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकेगी किन्तु कुछ दिनोंके बाद ही नष्ट या अन्य समधारावाली जातिमें लय हो जायगी। आर्यजातिमें वर्णव्यवस्थाके टूट जानेसे एक वर्णके साथ वर्णान्तरके सम्बन्ध अवश्य ही होंगे जिसके फलसे अनेक वर्णसङ्कर जातियां उत्पन्न होंगी; परन्तु इस प्रकार वर्णसङ्कर जातियां प्रकृतिकी समधाराके विरुद्ध होनेके कारण कुछ दिनोंमें ही नाशको प्राप्त हो जायंगी इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं हो सकता। भारतवर्षमें जबसे वर्णव्यवस्था शिथिल हो गई है तबसे कितनी ही वर्णसङ्कर जातियां इस प्रकार उत्पन्न होकर कुछ दिनोंके बाद नष्ट हो गई हैं या अन्य किसी जातिमें लय हो गई हैं। साधारण तौरपर देखा जाता है कि प्रायः उच्च जातिमें वर्णसङ्कर पुरुष या स्त्रीकी सन्तान नहीं होती और ऐसे मनुष्य प्रायः निर्व्वंश हो जाते हैं। प्रकृतिकी विषम धाराका ही यह सब परिणाम है अतः आर्य्यजातिमें वर्णव्यवस्थाके टूटजानेसे केवल आर्यजाति अनार्य ही नहीं हो जायगी, अधिकन्तु व्यापक प्रकृतिमें अनेक विषमधाराओंकी सृष्टि करके कुछ दिनोंके बाद उसके अतलगर्भमें डूब जायगी अतः सिद्धान्त हुआ कि आर्यजातिमें वर्णव्यवस्था का रहना इस जातिके जिवित तथा आर्यभावयुक्त रहनेके लिये परम हितकर है। इसी विचारको अन्यान्य जातिमें घटानेसे सिद्धान्त होगा कि वर्णव्यवस्थाके बिना कोई भी जाति चिरस्थायी नहीं हो सकती। मनुष्यके नीचेके जीवोंमें देखिये वे जीव प्रकृतिके तमःप्रधान राज्यमें होनेके कारण यद्यपि उनमें वर्णव्यवस्थाकी स्थिति स्पष्टतया नहीं दिखाई देती, तथापि उनमें चातुर्वर्ण्य है; क्योंकि प्रकृतिका कोई भी राज्य त्रिगुणसे बाहर न होनेके कारण त्रिगुणके अनुसार चार

वर्णोंकी स्थिति सर्वत्र ही स्वाभाविक है। जब मनुष्येतर प्राणियोंमें भी चार वर्ण विद्यमान हैं, तो चाहे अनार्य ही क्यों न हो, सभी मनुष्योंमें चार वर्ण अवश्य रहेंगे। केवल विशेषता इतनी ही है कि आर्य-जातिमें त्रिगुणका पूर्ण विकाश होनेके कारण यहांपर कालप्रभावसे वर्णसङ्कर प्रजा उत्पन्न होनेपर भी चातुर्वर्ण्यका बीजनाश कदापि नहीं होगा; परन्तु अन्यान्य जातियोंमें त्रिगुणका पूर्ण विकाश न होनेके कारण वहां पर वर्णव्यवस्थाकी पूर्ण स्थिति असम्भव होनेसे स्वतः ही वर्णसङ्कर प्रजा उत्पन्न होकर कुछ दिनोंमें वह जाति अवश्य ही समूल नाशको प्राप्त हो जायगी। यही वर्णव्यवस्थाके साथ प्रत्येक जातिके अस्तित्वका सम्बन्ध है और अनार्यजातिसे आर्य-जातिकी विशेषतामें यही वर्णव्यवस्थाकी आवश्यकताका प्रमाण है।

मीमांसा शास्त्रके आचार्य्योंने किसी मनुष्यजातिके चिरस्थायी होनेके विषयमें असवर्ण विवाह, स्वगोत्र विवाह और अयोग्यवयस्क विवाह, इन तीनोंको प्रधान बाधा करके वर्णन किया है। अपने अपने वर्णमें विवाह न करके यदि असवर्ण विवाहका प्रचार किया जाय तो मनुष्य जाति किस प्रकारसे लयको प्राप्त हो जाती है उसका प्रमाण हम ऊपर दे चुके हैं। स्वगोत्र विवाहसे भी मनुष्य जाति नष्ट हो जाती है। इसके विषयमें मीमांसा दर्शनशास्त्रकी सम्मति यह है कि पुरुषसे वीर्य्यकी धारा और स्त्रीसे रजकी धारा, ये दोनों अलग अलग तथा परस्परमें बेमेल जब तक रहती हैं तब तक दोनोंकी शक्ति यथावत् बनी रहती है। स्त्री यदि पुरुषका काम और पुरुष यदि स्त्रीका कार्य्य करने लगे, स्त्री यदि पुरुषकी प्रकृति और पुरुष यदि स्त्रीकी प्रकृतिका अनुकरण करने लगे तो दोनों ही जैसे अपने स्वरूपसे भ्रष्ट हो जाया करते हैं, ठीक उसी प्रकार किसी मनुष्य जातिमें यदि वीर्य्यकी धारा और रजकी धारा एक दूसरेसे बेमेल न रक्खी जायगी, तो दोनों धाराएं दुर्बल होकर अन्तमें उस मनुष्य जातिका नाश कर देती हैं। इसी वैज्ञानिक सिद्धान्त पर स्थित होकर आर्य्य

महर्षियोंने स्वगोत्रा कन्याके साथ विवाह करनेका प्रबल निषेध किया है और स्वगोत्रा कन्यामें गमन करनेको मातृगमनके तुल्य वर्णन किया है। आर्य्यजातिमें इसी कारण यह साधारण नियम है कि जिस गोत्रका पुरुष हो उसी गोत्रकी कन्याके साथ उसका विवाह नहीं हो सकता; अर्थात् वीर्य्यकी धाराको रजकी धारामें मिलने देना उनके सिद्धान्तोंके अनुसार अधर्म्म है। उसी शैली पर पुरुषसे कन्याका वय कम न होना भी आर्य्यजातिमें धर्म्मविरुद्ध माना गया है। सृष्टिप्रवाहमें पुरुष प्रधान और स्त्री अप्रधान है। इस विज्ञानको हम नारीधर्म्मके अध्यायमें भली भांति दिखा चुके हैं। जब तक प्रकृतिके स्वाभाविक नियमकी रक्षा हम करेंगे तब तक हम जीवित रह सकते हैं। प्राकृतिक नियमोंके साथ बला-त्कार करनेसे और प्राकृतिक धर्म्मके विरुद्ध चलनेसे हम अल्पायु होंगे इसमें कुछ भी सन्देह नहीं; इसीसे विवाह पद्धतिमें भी वयके विचारसे पुरुषका प्राधान्य और स्त्रीका गौणत्व रक्खा गया है। जिस मनुष्यजातिकी विवाहरीतिमें पुरुषका अधिक वय होने और स्त्रीके कम वय होनेकी आज्ञा रहेगी वही मनुष्यजाति प्रकृतिके साधारण नियमोंके पालन करनेसे अधिक काल जीवित रह सकेगी। इस प्रकार वैज्ञानिक रहस्यपूर्ण एवं जातिको दीर्घायु बनानेके उपयोगी सदाचारयुक्त नियम आर्य्यजातिमें होनेसे आर्यजाति इतने कालसे जीवित है और यही सब सिद्धान्त अनार्यसे आर्य्यजातिकी विशेषताको सिद्ध करते हैं।

इसी प्रकार आश्रमधर्म भी अनार्यसे आर्यकी विशेषताका अन्यतम लक्षण है। कर्ममीमांसादर्शनमें लिखा है:—

प्रवृत्तिरोधको वर्णधर्मः ।
निवृत्तिपोषकश्चाऽपरः ।
उभयोपेताऽऽर्यजातिः ।
तद्विपरीताऽऽनार्या ।

वर्णधर्म प्रवृत्तिरोधक है और आश्रमधर्म निवृत्तिपोषक है। जो जाति वर्ण और आश्रम दोनों धर्मोंसे युक्त हो वही आर्यजाति है। इससे विपरीत अर्थात् वर्णाश्रमधर्मविहीन जाति अनार्यजाति है। जिस प्रकार प्रवृत्तिका निरोध करके मनुष्यको वर्णधर्म नीचे जानेसे रोकता है, उसी प्रकार आश्रमधर्म भी निवृत्तिभावको बढ़ाकर जीवको आध्यात्मिक उन्नतिकी पराकाष्ठा तक पहुंचाकर मुक्तिपद प्रदान करता है। पहिले ही आश्रमधर्मके अध्यायमें कहा गया है कि ब्रह्मचर्य्याश्रममें संयमके साथ धर्ममूलक प्रवृत्तिकी शिक्षाके अनन्तर गृहस्थाश्रममें भावशुद्धि-पूर्वक प्रवृत्तिके पालनसे जब निवृत्तिका उदय होने लगता है तब वानप्रस्थाश्रममें तपस्याके द्वारा शरीर मनको शुद्ध करके निवृत्तिके अभ्यासके परिपाकमें निवृत्तिके चरम आश्रम संन्यासको मनुष्य प्राप्त करते हैं। इसी प्रकारसे पूर्ण निवृत्तिकी प्राप्ति होनेसे जीवको निःश्रेयस लाभ होता है, जैसा कि उपनिषद्में लिखा है:—

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः।

सकाम कर्म, प्रजोत्पत्ति या धनके द्वारा नहीं, किन्तु त्यागके द्वारा ही अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। जिस जातिमें आश्रमधर्मका ठीक ठीक प्रतिपालन होता है, वह जाति स्वाभाविक प्रवृत्तिबाधाको दूर करके अवश्य ही निवृत्तिकी पूर्णतामें मुक्तिपदको प्राप्त कर सकती है; परन्तु जिस जातिमें आश्रमधर्मका प्रचार नहीं है, वह जाति निवृत्ति-भावके पोषण न होनेसे दिन प्रतिदिन प्रवृत्तिके अन्धकूपमें डूबती जाती है जिससे उसकी जातीयताका नाश, अधःपतन और अन्तमें अस्तित्व तकका नाश हो जाता है। जिस जातिमें आश्रमधर्म्म नहीं है वह जाति कभी आध्यात्मिक मार्गमें उन्नति नहीं कर सकती और न निवृत्तिमूलक आर्यभावको ही दृढ़ रखनेमें समर्थ हो सकती है। आश्रमधर्मके दुर्बल होनेसे आर्यजाति आज हीनदशाको प्राप्त हो रही है और इसमेंसे निवृत्तिका भाव दूर होकर इसमें दिन प्रतिदिन विलास-

बुद्धि तथा पाशविक भाव बढ़ रहा है । आश्रमधर्मके नष्ट होनेसे वह जाति अपनी आर्यतासे गिरकर अनार्य बन जायगी; अतः आर्य-जातिकी जातीयताकी रक्षाके लिये आश्रमधर्मका प्रतिपालन करना आवश्यक है और यही अनार्यजातिसे आर्यजातिकी विशेषताका अन्यतम लक्षण है ।

इसी प्रकार जिस जातिमें पतिव्रत्यधर्मका पालन नहीं होता, वह जाति कभी अपने आर्यभावको स्थिर रखनेमें समर्थ नहीं हो सकती और उसकी स्थिति भी संसारमें बहुत कालतक नहीं होती । नारी-धर्मके अध्यायमें पहले ही कहा गया है कि जो जाति स्थूल शरीरके भोगविलासको ही मुख्य मानती है और सूक्ष्म शरीर तथा आत्माके आनन्दको गौण समझती है, उस जातिकी स्त्रियोंमें एकपतिव्रतका पालन कभी नहीं हो सकता । उन्हें एक पतिकी मृत्यु होनेपर पुरुषा-न्तर ग्रहण करना स्थूल शरीरके भोग विलासके लिये अवश्य ही प्रयोजनीय होता है । जहांपर जीवका आदर्श इस प्रकार इन्द्रिय-परायणता ही हो, वहां अन्तःकरणकी हीनता और उन्नत चरित्रका अभाव होना स्वतःसिद्ध है; इसलिये इस प्रकारकी जातिमें पूर्ण पुरुष तथा आर्यगुण सम्पन्न पुरुष कदापि नहीं उत्पन्न हो सकते । जिस जातिके मातापिताओंमें तथा पूर्वपुरुषोंमें जिस संस्कारका अभाव है उस जातिमें उस संस्कारसे सम्पन्न सन्तान कदापि नहीं उत्पन्न हो सकती । आर्य स्त्री ही जानती है कि पतिके स्थूलशरीरके नाश होनेपर उसकी आत्माके साथ आध्यात्मिक आनंद तथा संयम-जनित आनन्दका भोग एवं सम्बन्ध किस प्रकार हो सकता है । आर्यमाता ही जानती है कि स्त्रीका शरीर जब अपने भोग विलासके लिये नहीं किन्तु पतिदेवताकी पूजाके लिये नैवेद्यरूप है, तो जिस प्रकार देवताके अन्तर्धान होनेसे नैवेद्यका कोई प्रयोजन नहीं रहता, उसी प्रकार पतिदेवताके परलोकवास होनेसे इहलोकमें स्त्री-शरीर रखनेका कोई भी प्रयोजन नहीं रह जाता इस लिये सहमृता होना

और जीवित रहे तो केवल पतिके कल्याणार्थ ही निवृत्तिधर्मका पालन करते हुए जीवित रहना पतिप्राणा सतीके लिये परम धर्म है । जिस जातिमें इस प्रकारका आदर्श जाज्वल्यमान है, वही जाति आत्माके सुखके लिये स्थूलशरीरके सुखको त्याग कर सकती है और आत्मानन्दको ही मुख्य मानकर शरीरका व्यवहार संसारमें उसी परमानन्दके लक्ष्यसे कर सकती है । यही यथार्थ आर्यभाव है जैसा कि पहिले वर्णन किया गया है । जिस जातिमें दाम्पत्यप्रेम ऐसे उच्च आदर्श पर प्रतिष्ठित है उसी जातिमें आर्यगुणसम्पन्न सन्तान उत्पन्न हो सकती है, अन्यजातिमें कदापि नहीं हो सकती इसलिये यदि आर्यजातिमेंसे पातिव्रत्यधर्म्मका सर्वोत्तम आदर्श नष्ट हो जायगा तो आर्य्यजाति अधःपतनको प्राप्त होकर अनार्य हो जायगी इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है । यही अनार्यजातिसे आर्यजातिकी विशेषताका एक प्रधानतम लक्षण है । पातिव्रत्यधर्म्मके नष्ट होनेसे न केवल अनार्य्यत्वप्राप्ति ही होगी अधिकन्तु जिस जातिमें पतिव्रत्यधर्म नहीं है वह जाति संसारमें कदापि चिरस्थायी नहीं हो सकेगी । संसारमें भोगद्वारा वासनाका क्षय कदापि नहीं होता । घृताहुत वह्निकी तरह बढ़ती हुई वासना मनुष्यको प्रवृत्तिके अधस्तम अन्धकूपमें ले जाती है । सतीधर्म त्याग तथा तपस्यामूलक है । उसके पालनसे जातिमें प्रवृत्तिकी अनर्गलता रुक जाती है और अध्यात्मिक उन्नतिकी ओर वह जाति बढ़ सकती है । जहांपर प्रवृत्तिका नियमित और अर्गलाबद्ध करनेका नियम नहीं है, वहां पर प्रवृत्ति भोगद्वारा क्रमशः बलवती होकर जातिको अधोगति प्राप्त करावेगी और इस प्रकार अधोगतिकी पराकाष्ठा अर्थात् प्रवृत्तिकी पराकाष्ठामें प्राप्त होनेसे वह जाति नष्ट हो जायगी इसमें भी कोई सन्देह नहीं है । अन्ततः पातिव्रत्यधर्मका नाश होनेसे कोई भी जाति चिरस्थायी नहीं हो सकती । इसके सिवाय और भी एक कारण है जिससे सतीधर्महीन जाति जगत्में चिरस्थायी नहीं हो सकती । नारीधर्मके अध्याय-

में पहिले ही कहा गया है कि स्त्रीजाति प्रकृतिकी रूप होनेसे उसमें विद्या और अविद्या दोनों भावोंका सन्निवेश रहता है। विद्याभावके द्वारा स्त्री पातिव्रत्यकी पूर्णतासे जगदम्बा बन सकती है और अपनी स्त्री-योनिसे मुक्त हो सकती है; परन्तु तामसिक अविद्या भावकी वृद्धि होनेसे पातिव्रत्यधर्मका नाश होकर स्त्री पिशाचिनी बन जाती है और अविद्याके कराल ग्रासमें पतित होकर अनेक पुरुषोंके संसर्ग-से इन्द्रियवृत्तिकी चरितार्थता तथा वर्णशङ्कर प्रजाकी उत्पत्ति करती है। पहिले ही कहा गया है कि पुरुषसे स्त्रीकी विषयप्रवृत्ति अधिक बलवती होती है और उसमें भोगशक्ति भी असीम होती है। ऐसा होनेसे ही स्त्रीके लिये त्यागमूलक तथा तपोमूलक पातिव्रत्यधर्मका उपदेश किया गया है जिससे स्त्री अपनी प्रवृत्तिको नियमित करके देवीभावको प्राप्त करे तथा सुसन्तानको उत्पन्न करके संसारको पवित्र करे। पातिव्रत्यधर्मके नष्ट होनेसे स्त्रीकी प्रवृत्ति नियमित न होकर अनर्गल और नवनवाभिलाषिणी हो जायगी, पुरुषकी अपेक्षा उसकी भोगपरायणता अनन्तगुण बढ़ जायगी जिससे एक पति उसके लिये यथेष्ट नहीं होगा और वह अवश्यही उपपतिके सङ्गसे वर्ण शङ्कर प्रजा उत्पन्न करेगी। जिस जातिमें पातिव्रत्यधर्मका पूर्ण आदर्श है ही नहीं, वहां तो इस प्रकार वर्णसङ्करता फैलना स्वाभाविक ही है। वर्णसङ्करता फैलने पर—जैसा कि पहले कहा गया है—सृष्टिकी समधाराके बीचमें अनेक विषमधाराएँ उत्पन्न हो जायँगी जिनका रहना प्राकृतिक नियमके सम्पूर्ण विपरीत होगा। अन्ततः इस प्रकार वर्णसङ्कर प्रजाकी सृष्टि प्राकृतिक नियमानुसार शीघ्र ही नाश हो जायगी या अन्य किसी जातिमें लय हो जायगी। अतः सिद्धान्त हुआ कि जिस जातिकी स्त्रियोंमें सतीधर्मका आदर्श विद्यमान नहीं है, जिस जातिकी स्त्रियां इस लोक और परलोक दोनोंमें ही पतिके अस्तित्वको स्वीकार करके आजीवन एक पतिव्रत-को धारण करना नहीं जानती, जिस जातिकी विधवा स्त्रियां स्वभाव

से ही संन्यासव्रतको धारण करके तपस्विनी बनना नहीं जानती और जिस जातिमें यथार्थ पातिव्रत्यधर्मका पालन नहीं होता वह जाति चिरस्थायी नहीं हो सकती। आर्य्यजाति पातिव्रत्यधर्मके पालन द्वारा ही अपने अस्तित्वको और आर्य्यभावको चिरस्थायी बना सकती है और यही अनार्य्यजातिसे इसकी एक प्रधान विशेषता है।

पूर्व्वोक्त विचारसमूहका सारांश क्या है यदि यह सोचा जाय तो यही सिद्धान्त होगा कि जिस जातिमें ज्ञानकी पूर्णताका विकाश होकर आत्मतत्त्वज्ञानकी स्फूर्ति हुई है अर्थात् जो मनुष्य-जाति अपनी अध्यात्मशुद्धि द्वारा जगत्में तत्त्वज्ञानके विचारसे जगद्गुरु है वही आर्य्यजाति है। जिस मनुष्यजातिकी आधि-भौतिक शुद्धि सृष्टिके आदिकालसे बनी हुई है; अर्थात् जिस मनुष्यजातिमें रज और वीर्य्यकी शुद्धि सृष्टिके आदिकालसे ठीक ठीक बनी हुई है वही जाति हिन्दुशास्त्रके अनुसार आर्य्यजाति है और जिस मनुष्यजातिमें दैवराज्यके ज्ञान और कर्म विज्ञानकी पूर्णता होनेसे उसकी आधिदैव शुद्धि चिरस्थायी रहती है वही जाती वेदा-नुसार आर्य्यजाति कहावेगी। आर्य्यजातिमें इसी कारण धर्म्मका पूर्ण विकाश हुआ है। धर्म्मका सार्व्वभौम और सर्व्वशक्तिमय पूर्ण स्वरूप इसी कारण इस आर्य्यजातिने देखा है। इसी कारण आर्य्य-जाति आचारको प्रथम और प्रधान धर्म्म करके मानती है। सूक्ष्मा-तिसूक्ष्म विज्ञानसे भरे हुए अद्वैतवादके धर्म्मसे लेकर स्थूलसे अति-स्थूल आचारधर्म्म तक यह जाति मानती है इसी कारण यह आर्य्य-जाति कहाती है। छोटेसे छोटे विषयको भी पूर्ण रीतिसे देखनेसे ही दृष्टि-शक्तिकी पूर्णता होगी। शरीरकी स्थूलसे स्थूल चेष्टाके साथ धर्म्मका सम्बन्ध माननेको ही आचार कहते हैं। आचार-धर्म्मकी यह जाति मानती है, यही अनार्य्यजातिसे आर्य्यजातिकी एक प्रधान विशेषता है।

यह बात अवश्य ध्यान देने योग्य है कि कोई भी जाति केवल

संख्यावृद्धिके द्वारा उन्नति नहीं कर सकती किन्तु अपनी जातीयताके विशेष विशेष भावोंको पुष्ट करनेसे ही उन्नति कर सकती है। जातिकी उन्नति जातीयतासे होती है केवल संख्या बढ़ानेसे नहीं। आर्य्यजातिमें ऊपर लिखित जिन विशेष बातोंके रहनेसे यह जाति संसारकी अन्यान्य जातियोंकी अपेक्षा अपना अस्तित्व अक्षुण्ण रखनेमें समर्थ हो रही है, उन विशेष बातोंके उड़ा देनेसे आर्य्यजाति उन्नति नहीं कर सकेगी, उन बातोंके स्थायी रखनेसे ही उन्नति कर सकेगी। विशेषता ही जातिके अस्तित्वकी रक्षक है। विशेषताके नष्ट होनेसे जातिका पृथक् अस्तित्व भी नष्ट हो जाता है और वह अन्यजातिमें लय हो जाती है; अतः अनार्यजातिके साथ आर्य्यजातिकी विशेषताके विषयमें जितने लक्षण ऊपर बताये गये हैं उन लक्षणोंके साथ आर्यजाति जबतक युक्त रहेगी, तभी तक संसारमें इसका अस्तित्व स्थायी रहेगा और यह जाति दिन प्रतिदिन उन्नतिके उच्च शिखरपर आरोहण करेगी। चाहे किसी जाति पर कितनी ही आपत्ति आवे, यदि जातीयताके विशेष विशेष लक्षण अक्षुण्ण रहें तो वह जाति कदापि नष्ट नहीं हो सकती; अधिकन्तु समस्त बाधाओं तथा विपत्तियोंको झेलकर पुनः उन्नति कर सकती है; परन्तु यदि जातीयताके विशेष विशेष भाव ही नष्ट हो जायं तो किसी जातिकी व्यवहारिक उन्नति तथा संख्या-वृद्धि चाहे जितनी क्यों न हो, वह जाति विशेषतासे भ्रष्ट होनेके कारण अपने अस्तित्वको खोकर अन्य जाति बन जाती है और इस दशामें उसकी उन्नति किसी कामकी नहीं होती। जातीयता ही जातिका प्राणरूप है। उसी प्राणशक्तिके नष्ट होनेसे जाति निर्जीव तथा मृत हो जाती है और इस मृत अवस्थामें उसकी कोई भी उन्नति यथार्थ उन्नति कहलाने योग्य नहीं होती।

यह पहले ही हम वेद और शास्त्रों द्वारा दिखा चुके हैं कि जिस मनुष्य जातिमें वर्ण और आश्रमधर्म विद्यमान हो, जिस जातिके

प्रत्येक कार्य,भाव और चिन्तामें अध्यात्मलक्ष्य सर्वप्रधान स्थान प्राप्त करता हो, जिस जातिमें आचारधर्मका पालन करना सर्वप्रधान कर्तव्य समझा गया हो और जिस जातिकी नारियोंमें सती धर्मका आदर्श विद्यमान हो वही आर्य्यजाति कहाती है और जिस जाति-में ये सब धर्मलक्षण नहीं मिलते, वही अनार्यजाति कही जायगी। वस्तुतः केवल बहिरङ्गके—मुखनासिका आदिके – लक्षणोंको देखकर आर्य और अनार्य जातिका निश्चय करना सनातनधर्म-विज्ञान द्वारा अनुमोदित नहीं हो सकता। जिस जातिमें रज और वीर्यकी शुद्धि-को प्रधान मानकर जन्म, कर्म और ज्ञानके विचार द्वारा वर्णधर्मकी शृङ्खला जारी है वही आर्यजाति कहावेगी। जिस जातिमें यह शृंखला प्रचलित नहीं है, वह जाति सनातनधर्मके अनुसार अनार्य जाति कहावेगी। जिस जातिके विद्यार्थिगण ब्रह्मचर्य व्रत धारण पूर्वक आत्माकी उन्नतिको प्रधान लक्ष्यमें रखकर विद्याभ्यासमें प्रवृत्त रहेंगे और अपने विद्यादाता आचार्यको परम देवता समझकर अति भक्तिसे उनकी सेवामें तत्पर रहेंगे वही आर्य्यजाति कहावेगी। जिस जातिके विद्यार्थियोंमें इन लक्षणोंका एकवारही अभाव हो जायगा वह जाति सनातनधर्म्मके सिद्धान्तानुसार अनार्य्यजाति कहावेगी। जिस जातिमें मनुष्यगण स्त्रीसंसर्ग, धनसंग्रह आदि प्रवृत्तिदायक विषय, विषयभोग-वासना-निवृत्तिके लिये ही ग्रहण करेंगे, जिस जातिके दम्पति इन्द्रियदमनके लिये ही इन्द्रियभोग शास्त्रनियमानुकूल करेंगे, वही जाति आर्य्यजाति कहावेगी। और जिस जातिमें ये लक्षण नहीं पाये जायँगे वही जाति सनातनधर्म-विज्ञानके अनुसार अनार्य्य जाति कहलावेगी। जिस जातिके मनुष्य अपने जीवनको केवल प्रवृतिभोगके लिये ही न समझकर निवृत्तिको ही जीवनका लक्ष्य समझते हुए अपने इस जीवनके नियत समयसे एकवार ही प्रवृत्ति सम्बन्धके त्याग करनेके लिये प्रस्तुत होंगे और अन्तमें पूर्णरूपसे निवृत्ति-धर्मके अधिकारका दावा रक्खेंगे

वही आर्य्यजाति कहावेगी और जिस मनुष्यजातिमें ये सब लक्षण नहीं पाये जाते सनातनधर्मके अनुसार वह अनार्यजाति कहावेगी। जिस मनुष्यजातिके उठने बैठनेमें, चलने फिरनेकी सब चेष्टाओंमें, भाव और चिन्ताओंमें, भोजन और आच्छादनमें, अपिच सब शारीरिक और मानसिक कर्म्मोंमें,केवल आत्मसाक्षात्कार-प्राप्तिकारी आध्यात्मिक लक्ष्य ही प्रधान समझा जाता है, वही जाति हिन्दुशास्त्रके अनुसार मनुष्यसमाजमें आर्य्यजाति कहावेगी और जिस जातिमें ये लक्षण विद्यमान नहीं हैं वैदिक दर्शन-सिद्धान्तके अनुसार वह जाति अनार्य्यजाति कहलावेगी। जिस मनुष्य जातिमें धर्म्मकी सूक्ष्मताका रहस्य इतना समझा गया हो कि सब प्रकारकी शारीरिक चेष्टाओंके साथ धर्मका सम्बन्ध है और आचार भी धर्म है, वही जाति वैदिक सिद्धान्तके अनुसार आर्य्यजाति कहावेगी और जिस जातिके आचारके साथ धार्मिक कर्त्तव्यका कोई भी सम्बन्ध न माना जाय, सनातनधर्मके सिद्धान्तानुसार वही जाति अनार्यजाति कहावेगी। जिस मनुष्य जातिमें सतीधर्मका आदर्श विद्यमान हो, जिस जातिकी नारियोंमें मनसे भी द्वितीय पुरुषके सङ्गको पाप करके माना गया हो और जिस जातिकी कुलाङ्गनाएँ इहलोक और परलोक दोनोंमें समानरूपसे पतिके अनुगमनको ही परम धर्म्म मानती हों, वही मनुष्यजाति आर्यजाति कही जायगी और जिस मनुष्यजातिमें त्रिलोक-पवित्रकर इस प्रकारके सतीधर्मका आदर्श विद्यमान न हो सनातनधर्मके सिद्धान्तानुसार वही जाति अनार्य-जाति कहावेगी। सब विज्ञानका सारांश यह है कि वैदिक दर्शन-शास्त्रके अनुसार आर्य्यजाति और अनार्य्यजातिका भेद मनुष्यके बहिर्लक्षणोंसे नहीं निश्चय किया गया है। वैदिक शास्त्रोंमें आर्य और अनार्यजातिका तथा आर्यधर्मका विचार अन्तलक्षणोंको देखकर निर्णय किया है। इस विषयको सदा ध्यानमें रखना चाहिये।

राजधर्म और प्रजाधर्म ।

(७)

वर्णधर्म, आश्रमधर्म आदिकी तरह राजा और प्रजाके धर्म भी विशेष धर्मके अन्तर्गत हैं। राजा श्रीभगवान्‌की ओरसे प्रतिपालक रूपसे तथा प्रजा प्रतिपाल्य रूपसे विधिनिर्दिष्ट होनेके कारण इन दोनोंका पारस्परिक कर्त्तव्य सम्बन्ध अति महान् तथा दायित्वपूर्ण है। इसके पालनके विना राजा, प्रजा और राज्य किसीमें भी शान्ति नहीं रह सकती है। वह कर्त्तव्य क्या है और उसके विषयमें प्राचीन महर्षियोंने क्या क्या विचार प्रकट किया है सो संक्षेपसे नीचे बताया जाता है।

यह संसार शक्तिका ही विकाशरूप है। सच्चिदानन्दमय ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिरूपिणी महामाया दोनोंमें अभेद होनेपर भी ब्रह्म तो केवल इस प्रपञ्चात्मक संसारके साक्षीरूप हैं और स्थूल एवं सूक्ष्म दृश्यरूपी यह जगत् शक्तिका ही विकाश है। जिस प्रकार एक अतिक्षुद्र बटबीजमें महान् बटवृक्ष शक्तिरूपसे निहित रहता है, पुनः पृथिवीकी कालान्तरमें सहायतासे उसी छोटेसे बट-बीजसे अतिवृहत् बटवृक्ष प्रकट हो जाता है; ठीक उसी तौर पर सृष्टिके पूर्ववर्त्ती समष्टिसंस्काररूपी सृष्टिबीजसे कालान्तरमें जड़चेतनात्मक मनुष्य आदि मृत्युलोक और देवपितर आदि देवलोकात्मक यह स्थूल सूक्ष्म संसार प्रकट हुआ करता है। अन्ततः यह संसार शक्तिका ही विकाश मात्र है।

स्थूलदृष्टिसे जगत्प्रसविनी अचिन्तनीय महाशक्तिकी तीन दशाएँ अनुभव करनेमें आती हैं। एक आकर्षण और विकर्षण शक्तिकी समताकी दशा, दूसरी केवल आकर्षणकी ही दशा और तीसरी केवल विकर्षणकी दशा। इन तीनों दशाओंको उदाहरणकी सहायतासे समझानेका यत्न किया जाता है। अनन्त ग्रह उप-

ग्रहसे पूर्ण इस सौरजगत्के सूर्य्य, ग्रह और उपग्रह सबमें ही स्वतन्त्र स्वतन्त्ररूपसे आकर्षणशक्ति विद्यमान है। आकर्षण शक्ति दूसरे ग्रह उपग्रहको अपनी ओर खेंचती है और विकर्षण शक्ति दूसरोंको अपनी ओरसे दूसरी ओर फेंकनेके लिये धक्का देती है। अपने अपने अधिकारके अनुसार सूर्य्य, ग्रह और उपग्रह, तीनोंमें ही ये दोनों शक्तियां नियमितरूपसे कार्य्य कर रही हैं। जबतक आकर्षण शक्ति समानरूपसे कार्य करती रहेगी तबतक सूर्य्यदेव, ग्रहगण और उपग्रहगण अपने अपने आवर्त्तमार्गमें यथानियम घूमते रहेंगे, न एक दूसरेसे टकरावेंगे और न अपने अपने आवर्त्तमार्गसे बाहर जा सकेंगे। इसी दशामें उन्हीं दोनों आकर्षण और विकर्षण शक्तियोंकी समतासे सौर जगत्की स्थिति बनी रहेगी और प्रलय नहीं होने पावेगा। दूसरी दशा केवल आकर्षणकी है और तीसरी दशा केवल विकर्षणकी है। जब ये शक्तिकी पिछली दोनों दशाएं प्रकट होने लगती हैं, तो केवल आकर्षणकी दशाके अन्तमें उपग्रह ग्रहके साथ और सब ग्रह सूर्य्यके साथ टकराकर नष्ट होकर सौर-जगत्का प्रलय कर डालते हैं। इसी तरह केवल विकर्षणकी दशामें ग्रह और उपग्रहगण अपने अपने आवर्त्तपथको छोड़कर बाहर निकल जाते हैं और क्रमशः अनियमके कारण या तो आपसमें टकराकर और नहीं तो दूसरे सौरजगत्के अधिकारमें घुसकर प्रलयका कारण बनते हैं। सौरजगत्के दृष्टान्त पर मनुष्य समाजमें इन दोनों शक्तियोंका विकाश और इन दोनों शक्तियोंका कार्य्यक्रम उदाहरण द्वारा अब समझने योग्य है।

गुरु, माता, पिता आदि गुरुजनोंमें श्रद्धाके द्वारा, स्त्री, पति, मित्र आदिमें प्रेमके द्वारा, पुत्र, कन्या, शिष्य आदिमें स्नेह और कृपाके द्वारा आकर्षण शक्तिका विकाश स्पष्ट ही प्रकट होता है और शत्रु आदिमें विकर्षण शक्तिका विकाश मनोवृत्ति द्वारा स्पष्ट रूपसे प्रतीयमान होता है; परन्तु मनुष्य समाजकी समता, मनुष्य

समाजमें शान्ति और मनुष्य समाजकी धर्म्मोन्नति तभी हो सकती है जब इन दोनों विरुद्ध शक्तियोंकी समता मनुष्य समाजमें बनी रहे। यदि आकर्षण और विकर्षण शक्तियोंकी समता बनी न रहती तो मनुष्य समाजमें माता, स्त्री और कन्याका भेद कभी नहीं बना रह सकता था। यदि आकर्षण विकर्षण इन दोनों शक्तियोंकी यथार्थ समता मनुष्य समाजमें विद्यमान नहीं रहती तो शिष्यमें गुरुभक्ति और गुरु-शुश्रूषाके लक्षण, गुरुमें शिष्यपर कृपा करनेकी प्रवृत्ति, पुत्रमें मातापितापर श्रद्धाके सदाचार, मातापितामें पुत्र कन्याओंपर निःस्वार्थ स्नेहका व्यवहार, अपराधीपर राजाके न्यायका वर्त्ताव और शत्रुके साथ नीतिका व्यवहार कदापि इस संसारमें दिखाई नहीं देता। अतः पूर्व कथित विचारसे यह सिद्ध हुआ कि आकर्षण शक्ति और विकर्षण शक्ति दोनोंकी अलग अलग क्रिया इस संसारके स्थूलसे स्थूल राज्यसे लेकर सूक्ष्मसे सूक्ष्म राज्य तक समानरूपसे विद्यमान है और जहां इन दोनोंकी समता है वहीं जगत्‌रक्षाका कारण विद्यमान है और जब कभी इन दोनों शक्तियोंकी समता नष्ट हो जाती है और इन दोनों शक्तियोंमेंसे कोई एक शक्ति अधिक प्रबल हो जाती है तबही प्रलय होने लगता है। यदि दोनों शक्तियोंकी समता नष्ट होकर सौर जगत्‌में कोई एक शक्ति अपनी प्रधानताको लेकर कार्य्य करने लगती है तो उस सौर जगत्‌का क्रमशः प्रलय हो जाता है। यदि दोनों शक्तियोंकी समता नष्ट होकर किसी गृहस्थके स्त्री पुरुषोंमें कोई एक शक्ति प्रबल होकर कार्य्य करने लगती है तो उस गृहस्थके स्त्री पुरुषोंमेंसे धर्म्माधर्म विचार नष्ट हो जाता है और उस गृहस्थके स्त्री-पुरुष उच्छृङ्खल होकर दुराचारी और अनार्य हो जाते हैं। और यदि दोनों शक्तियोंकी समता नष्ट होकर किसी मनुष्य समाज अथवा किसी राजाके राज्यमें कोई एक शक्ति प्रबल होकर कार्य्य करने लगती है तो वह मनुष्य समाज अथवा वह राज्य नष्ट भ्रष्ट हो जाता है। राजधर्म्म और प्रजाधर्म्म दोनोंमें ही इन दोनों शक्ति-

योंकी समता समानरूपसे विद्यमान रहनी चाहिये, नहीं तो राजा और प्रजा दोनों ही धर्महीन होकर नष्ट हो जायँगे।

राजधर्म और प्रजाधर्मको सुरक्षित करनेके अर्थ आजतक जितने प्रकारकी राज्यशासनप्रणाली और राजनीति संसारमें प्रचलित हुई हैं उनके विभाग निम्नलिखितरूपसे कर सकते हैं, यथाः—(क) प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणाली (Republican form of Government), (ख) वर्त्तमान यूरोपीय राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली (Limited monarchy), (ग) स्वेच्छाचारी राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली (Despotic Government) और (घ) हिन्दुओंकी प्राचीन राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली। इन चारोंके लक्षण ये हैं। प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणालीके अनुसार प्रजा ही राजा और प्रजा दोनोंका कार्य्य करती है; उसमें राजाका नाम मात्र नहीं रहता। उसके नियमानुसार प्रजा ही अपनी प्रतिनिधिसभा नियत करती है, प्रतिनिधि सभाके चुनाव करनेमें उच्च नीच सब प्रजा समान अधिकार रखती है। वही प्रतिनिधि सभा एक नियमित समयके लिये प्रधान सभापतिरूपसे प्रेसिडेण्ट चुन लिया करती है; वही प्रेसिडेण्ट उसी नियमित समयके लिये राजाके कुछ अधिकार प्राप्त कर लेता है। प्रजा ही प्रतिनिधि सभाके द्वारा अपने राज्यके राजकीय नियम (राजानुशासनकी नियमावली) अर्थात् कानून निर्माण करती है। इस राज्य शासन प्रणालीके अनुसार यदि राजनैतिक योग्यता हो तो प्रजाका एक अति निकृष्ट मनुष्य भी उन्नति करता हुआ कालान्तरमें उस प्रजातन्त्र राज्यका प्रेसिडेण्ट बन सकता है। यद्यपि इस प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणालीके अनुसार कोई भी स्थायी राज्यपद नहीं प्राप्त कर सकता, स्थायी राजा बननेकी कोई इच्छा भी करे तो वह राजद्रोही समझा जाता है, परन्तु प्रजाकी शक्तिको नियोजित और नियमबद्ध करनेके लिये कई उपाय रक्खे गये हैं। प्रथम तो प्रेसिडेण्टको ही कुछ वर्षोंके लिये सर्वप्रधानशक्ति

राजशक्तिरूपसे प्रदान की गई है, दूसरे मन्त्रीसमाज गठन, निम्न प्रतिनिधिसभा और उच्च प्रतिनिधिसभा गठनप्रणाली, इन तीनोंके अधिकार भी ऐसे रक्खे गये हैं जिससे प्रजा उच्छृङ्खल न हो सके। प्रकारान्तरसे इस प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणालीमें राजाके अधिकारोंको भी रक्खा गया है और प्रजाको भी उच्छृ-ङ्खल होनेसे बचाया गया है, इस प्रकारसे प्रजाको सब प्रकारका अधिकार देनेपर भी राजा और प्रजा दोनोंके पदकी असीम शक्तिको सीमाबद्ध करके आकर्षण और विकर्षणशक्तिकी यथा-सम्भव समता स्थापन करते हुए राज्यरक्षाकी एक नई प्रणाली निकाली गई है। दूसरी वर्त्तमान यूरोपीय राजतन्त्र राज्यशासन प्रणालीमें राजाका सम्मान रक्खा गया है; इस राज्यशासन प्रणा-लीके अनुसार प्राचीन राज्यकुलका ही एक व्यक्ति अपने कुलपर-म्परागत नियमके अनुसार राजा होता है और जीवनपर्य्यन्त राजा रहता है; परन्तु उसके अधिकार और क्षमता प्रायः उतनी ही होती है जितनी कि प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणालीके प्रेसिडेण्टकी हुआ करती है और मन्त्रीसमाज गठन, निम्न प्रतिनिधि सभा और उच्च प्रतिनिधिसभा गठन-प्रणाली, ये सब भी प्रायः वैसे ही होते हैं कि जैसे प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणालीमें होते हैं। केवल राज-भक्तिका अंश इस राज्यशासनप्रणालीमें राजाज्ञा द्वारा स्थायी रक्खा जाता है। इस राज्यशासन प्रणालीमें राजा सम्मानके विचारसे सर्वश्रेष्ठ माना जाता है और शक्तिके विचारसे प्रजाके हाथमें ही सब कुछ होता है और दोनोंके अधिकार विभक्त रहते हैं। उदा-हरण स्थलपर समझ सकते हैं कि कानून बनानेको अधिकार प्रजा-की प्रतिनिधिसभाके हाथमें रहनेपर भी उस कानूनको स्वीकार करनेका अधिकार राजाको रहता है। उसी प्रकार युद्धाज्ञाप्रचारकी क्षमता और सेनाको युद्धमें नियोजित करनेका अधिकार राजाके हाथमें रहनेपर भी धन व्यय करनेका अधिकार प्रजाके हाथमें

रहता है। इस प्रकारसे राजा और प्रजा दोनोंकी उच्छृंखलताको नियमबद्ध प्रणालीसे रोकनेका प्रबन्ध रखकर आकर्षण और विकर्षणशक्तिकी समतास्थापना की गई है। तीसरी स्वेच्छाचारी राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली। जो कि बौद्ध राजाओंके समयसे प्रचलित हुई है और जिसका नमूना अभीतक तुर्क देश और चीनदेशमें उपस्थित था और जो रीति अभी तक भारतके देशी राज्योंमें भी कहीं कहीं प्रचलित है; परन्तु उसका पूरा नमूना हिन्दुस्तानके पठान और मुगलसम्राटोंके राज्यमें प्रकट हुआ था। इस स्वेच्छाचारी राज्यतन्त्र राज्यशासन प्रणालीके अनुसार राजा ही सब कुछ समझा जाता है, राजाकी निरङ्कुशता दमन करनेके लिये प्रजाके निकट कोई बल नहीं है, राजाकी राजाज्ञा ही कानून है और राजाकी राजाज्ञा ही धर्म है। इस राज्यशासन प्रणालीमें राजधर्म और प्रजाधर्ममें आकर्षण और विकर्षण शक्तिकी समता स्थापन करने या न करनेका अधिकार एकमात्र राजाकी इच्छापर निर्भर करता है। चौथी हिन्दुओंकी प्राचीन राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली है। वह इन पूर्वकथित तीनोंसे कुछ विलक्षण ही है। हिन्दुओंकी इस प्राचीन राजतन्त्र राज्यशासन प्रणालीमें एकमात्र धर्मही अनुशासन रूपसे राजधर्म और प्रजाधर्म दोनोंके अधिकारोंको विभक्त करके आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता स्थापन करता है।

पूर्वकथित चार प्रकारकी राज्यशासन प्रणालियोंमें राजा और प्रजाका जिस प्रकार सम्बन्ध बांधा गया है उन सब नियमोंको भलीभांति अन्वय व्यतिरेकके साथ विचार करनेसे यह सिद्धान्त होगा कि स्वेच्छाचारी राज्यतन्त्र राज्यशासन प्रणाली—जिसका उदाहरण प्राचीन तुर्क और चीन साम्राज्य था, उक्त राज्यशासन प्रणालीमें एकमात्र राजाको ही पूर्णशक्तिमान् बनाया गया है। उसी प्रकार सावधानताके साथ विचार करनेसे यही सिद्धान्त होगा कि प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणाली कि जिसका उदाहरण यूरोपीय फ्रांस

राज्य और अमेरिकाके राज्य हैं, उक्त राज्यशासन प्रणालीमें एकमात्र प्रजाको ही सर्व्वशक्तिमान् बनाया गया है। इन दोनों राज्य-शासन प्रणालियोंमेंसे प्रथममें तो राजाकी ओर और दूसरीमें प्रजाकी ओर आकर्षणशक्ति झुकी हुई है, यद्यपि इन दोनोंमेंसे प्रथममें एकमात्र राजा चाहे तो आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता अपने सद्विचारके द्वारा स्थापित रख सकता है, उसी प्रकार दूसरी प्रणालीमें यदि प्रजा चाहे तो आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता अपने सद्विचारके द्वारा स्थापित रख सकती है; परन्तु दोनोंही अपने अपने अधिकारके अनुसार पूर्ण-शक्तिवान् होनेके कारण यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि वे दोनों सदाके लिये सद्विचारवान् और निरपेक्ष रहेंगे; अतः इन दोनों राज्यशासन प्रणालियोंमें प्रमाद बढ़कर राज्यविप्लव और आकर्षण-शक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता नष्ट होकर राज्यके नष्टभ्रष्ट होनेकी पूर्ण सम्भावना रहती है। पृथिवीके नाना देशोंके इतिहासोंसे पाठकोंको स्पष्ट ही प्रतीत होगा कि, जिन जिन देशोंमें जब जब स्वेच्छाचारी राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली प्रचलित रही, उस समयमें जबतक उक्त राज्यकुलमें धर्मभीरु प्रजापालक संयमी और न्यायवान् राजा उत्पन्न होते रहे तभीतक उक्त राज्योंमें आकर्षण-शक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता स्थापित रहकर विद्या, बल, धन और धर्म, सब कुछ बना रहा, परन्तु राजवंशमेंसे पूर्वकथित गुणोंका नाश होतेही वह राज्य नष्टभ्रष्ट होगया। यदि हिन्दुस्तानके इतिहास पाठक पठान-साम्राज्यकी प्रथम स्थिति, मध्य स्थिति और अन्तिम स्थितिपर विचार करेंगे तो वे इस वैज्ञानिक सिद्धांतकी सत्यताको भलीभांति समझ सकेंगे। उसी प्रकारसे पृथिवीके नाना देशों और विशेषतः यूरोपीय देशोंके इतिहास पाठकोंको स्पष्टही प्रतीत होगा कि, जबतक किसी प्रजातन्त्र राज्यमें प्रजा धार्मिक, न्यायवान्, विद्वान् और नीतिज्ञ बनी रहती है तभीतक उक्त प्रजातन्त्र राज्यमें आकर्ष-

णशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता स्थापित रहकर उस देशमें विद्या, बल, धन और धर्मकी स्थिति बनी रहती है। प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणाली बहुत प्राचीन नहीं है। यही कहा जा सकता है कि, यह प्रणाली यूरोपीय रोमन-साम्राज्यसे ही निकली हुई है। अभीतक जिस प्रकार स्वेच्छाचारी राजतन्त्र राज्यशासन प्रणालीके दोष पृथिवीके इतिहासने बार बार प्रमाणित करके दिखाये हैं उस प्रकारसे पृथिवीके इतिहासको अभीतक इस प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणालीके दोषोंको सिद्ध करके दिखलानेका अवसर नहीं मिला, क्योंकि यह प्रणाली नवीन है; परन्तु इतिहासमें इस पूर्व कथित वैज्ञानिक सिद्धान्तकी पुष्टिमें कोई प्रमाण ही नहीं मिल सकता ऐसा नहीं; यूरोपीय रोमन-साम्राज्यके इतिहासको जिन्होंने भलीभांति पाठ किया है वे स्पष्ट ही जान सकेंगे कि, किस प्रकारसे प्रथम रोम राज्यमें प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणालीकी सृष्टि हुई और जब रोमप्रजा घोर विलासी, निरङ्कुश, नीतित्यागी और अधार्म्मिक बन गई तो अपने आपही रोमन प्रजातंत्रमहाशक्तिशाली राज्य ही नष्टभ्रष्ट नहीं हुआ, किंतु उस रोमन जाति तकका नाश हो गया। आज दिन यूरोपके उस ईटाली देशमें कि जहां रोमनसाम्राज्यका केन्द्र था, जो अब नई इटालियन जाति बनी है उस जातिसे प्राचीन रोमन जातिका कोई भी साक्षात् सम्बन्ध नहीं है; वर्त्तमान यूरोपके राजनीति तरङ्गके घात प्रतिघातसे इटाली देशमें वर्त्तमान इटालीयन जातिने थोड़ीही शताब्दियोंसे जन्म लिया है; अतः स्वेच्छाचारी राजतंत्र राज्यशासन प्रणाली और प्रजातंत्र राज्यशासन प्रणाली दोनोंहीमें स्वभावतः आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्ति दोनोंकी समता स्थापित रहनेके लिये चिरस्थायी अवसर न रहनेके कारण दोनों राज्यशासन प्रणालियां भयरहित नहीं हैं इसमें सन्देह ही नहीं।

मीमांसा शास्त्रने यह भलीभांति सिद्ध करके दिखा दिया है कि जीव चौरासी लक्ष योनियोंमें भ्रमण करता हुआ अपनी असम्पूर्णता-

को क्रमशः पूर्णकरके जब मनुष्य देहमें जीवत्वकी पूर्णताको प्राप्त करता है तो स्वतः ही अपने पिण्डरूपी देहका राजा बन जाता है और इसी कारण मनुष्य अपनी इन्द्रियोंको यथेच्छ कार्यों में ला सकता है। पञ्चकोषोंकी पूर्णताका अपने पिण्डरूपी देहपर आधिपत्य करना, इन्द्रियोंके चालनमें स्वेच्छाचार, विषयोंके भोगनेमें निरङ्कुशता इत्यादि कारणोंसे जीव मनुष्यशरीरमें इन्द्रियपरायण होकर अधोगामी हो जाता है। वस्तुतः मनुष्यः सब जीवोंमें श्रेष्ठ और उन्नत होनेपर भी पूर्ण शक्तिमान और स्वेच्छाचारी होनेके कारण इसकी दृष्टि सदा इन्द्रिय भोगकी ओर रहना स्वतःसिद्ध है। वह इन्द्रियभोगका अभिलाषी और इच्छाके पूर्ण करनेमें स्वतन्त्र होनेके कारण उसके अधःपतन होनेकी सम्भावना सदा रहती है। यही कारण है कि यदि मनुष्यके सब कार्यों में, मनुष्य-समाजकी गठनप्रणालीमें और राजधर्म और प्रजाधर्मके नियमित करनेमें आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता स्थापित नहीं रक्खी जायगी तो वह मनुष्य, वह मनुष्य-समाज और वह राज्य क्रमशः अधार्मिक, बहिर्दृष्टिसे सम्पन्न और स्वेच्छाचारी होकर नष्टभ्रष्ट हो जायगा। इसी कारण प्रजातन्त्र राजशासन प्रणालीमें जबतक प्रजा उन्नत, विद्वान्, संयमी और धार्मिक बनी रहती है, तबतक प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणालीसे क्षति नहीं होती, परन्तु पूर्व्वकथित सृष्टिनियमप्रणालीके अनुसार तथा आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समताके अभावसे प्रजा जब विलासी और निरङ्कुश होकर बहिर्दृष्टिसम्पन्न और अधार्मिक बन जाती है तो उसके साथ ही साथ वह राज्य भी क्रमशः बलहीन होकर नष्टभ्रष्ट हो जाता है। किसी मनुष्य समाज अथवा राज्यकी स्वास्थ्यरक्षाके लिये विद्या, बल, धन और धर्म्माचारोंकी समानरूपसे आवश्यकता है। इन चारों गुणोंमेंसे जितने गुणोंकी न्यूनता होगी, उतनी ही मनुष्यसमाज और राज्यकी जीवनशक्ति दुर्बल समझी जायगी और यह भी निश्चय है कि इन गुणावलियोंमेंसे एक

एकके अपव्यवहारसे मनुष्य-समाज या राज्य नष्टभ्रष्ट हो सकता है। उदाहरणके तौर पर समझ सकते हैं कि केवल विद्याको इन्द्रियसुख और लोकनाश आदि अहितकर कार्य्योंमें लगानेसे, बल्कि अपव्यहार-से, धनको इन्द्रियसुख और अधर्म्ममें लगानेसे और सब कार्य्योंमें धर्म्मका लक्ष्य छोड़ देनेसे अथवा इनमेंसे किसी एकके अपव्यवहारसे ही मनुष्यजाति या राज्य अपनी जीवन-शक्तिका नाश कर डालता है इसमें सन्देह ही नहीं। इसी प्रकारसे प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणालीकी प्रजा अपनी स्वाभाविक शक्तियोंके अपलापसे क्रमशः अपने राजानुशासनमें आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता रखनेमें असमर्थ होजाती है। ठीक इसी तरह स्वेच्छाचारी राज्य तन्त्र प्रणालीमें स्वेच्छाचारी राजा पूर्वकथित मानवीय दुर्व्वलताके कारण स्वयं विलासी, स्वेच्छाचारी, आलसी, असंयमी और अधा-र्मिक होकर अपनी राज्यशासन प्रणालीमें आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समताको नष्ट कर डालता है। ये सब बातें केवल कल्पना ही नहीं हैं किन्तु विज्ञानसिद्ध, मनुष्य प्रकृतिके अनुकूल और प्राचीन इतिहाससे सप्रमाणित हैं। इस कारण बहुदर्शी अन्तर्दृष्टिसम्पन्न योगिगण इन दोनों राज्यशासन प्रणालियोंको अन्तमें दुःखदायी, असम्पूर्ण, अल्पदिनस्थायी और क्रमशः मनुष्य समाजको अधार्मिक और बहिर्दृष्टिसम्पन्न बनाने वाली समझते हैं।

सूक्ष्म विचारके अनुसार अनुसन्धान करनेसे यही समझा जायगा कि अवशिष्ट दोनों राज्यशासनप्रणाली अर्थात् वर्त्तमान युरोपीय राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली (Limited monarchy) और हिन्दुओंकी प्राचीन राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली, दोनों एक ही जातिकी राज्यशासन प्रणाली हैं। वर्त्तमान युरोपीय राजतन्त्र राज्यशासनप्रणालीमें प्रत्येक प्रजाको अपने राजाकी भक्ति होनेपर भी राजाके अनुशासन कार्य्यको नियमबद्ध करनेके अर्थ अपने देशकी प्रतिनिधि सभा संगठन करनेमें पूर्ण अधिकार प्राप्त रहता है।

प्रत्येक प्रजा स्वतन्त्र सम्मति देती है, सब प्रजाकी समवेत सम्मतिमें मताधिक्यताके विचारसे उस राज्यकी प्रतिनिधि सभाका निर्वाचन होता है। यूरोपीय राज्य समूहमें और विशेषतः हमारे ब्रिटिश सम्राट्की राज्यशासन प्रणालीमेंसे एक प्रतिनिधि सभामें केवल ऐसे प्रतिष्ठित व्यक्तियोंका चुनाव होता है कि जो वंशानुगत रीतिपर राजसन्मानके अधिकारी हैं, इस शैलीसे जन्मगत और कुलानुगत मर्य्यादाकी भी प्रतिष्ठा रक्खी गई है। येही प्रजाकी दोनों प्रतिनिधि सभायें राजानुशासनकी व्यवस्था करती हैं, इन्हींमेंसे मंत्री-सभाका संगठन होकर राज्य कार्य्य चलाया जाता है अतः इस राजानुशासनशैलीमें राजभक्ति, वंशानुगत मर्य्यादा आदिके साथ ही साथ प्रजाकी यथेष्ट शक्ति विद्यमान है और राजशक्ति और प्रजाशक्ति दोनोंमें आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता चिरस्थायी रखनेके लिये बहुत कुछ यत्न किया गया है। धर्मके सहारेसे ये सब बातें हिन्दुओंकी प्राचीन राज्य तन्त्र राज्यशासनप्रणालीमें स्वाभाविक तौरसे उपस्थित थीं। शास्त्रोंके पाठ करनेसे सबको भलीभांति प्रतीत हो सकेगा कि हिन्दुओंकी ग्राम्य पञ्चायत प्रणाली, नगर प्रान्त जनपद आदिकी पञ्चायती व्यवस्था और सम्राट्के मंत्री समाजगठनकी व्यवस्थामें आकर्षण और विकर्षण शक्तिकी समताकी व्यवस्था पूर्णरीत्या रक्खी गयी है। राजाको साक्षात् भगवान्का अवतार माननेकी रीति जिस प्रकार हिन्दुशास्त्रमें है वैसी पृथ्वीके और किसी देशके किसी शास्त्रमें नहीं पायी जाती। राजाको भी प्रजाके लिये स्वार्थत्याग करनेकी और प्रजाको अपने पुत्रवत् प्रतिपालन करनेकी जिस प्रकारको आज्ञा हिन्दुधर्मशास्त्रमें पायी जाती है वैसी प्रबल आज्ञा और कहीं नहीं पाई जाती। एक ओर प्रजामें राजभक्तिकी पूर्णता और दूसरी ओर राजामें प्रजावात्सल्यकी पूर्णता हिन्दुशास्त्रमें अतुलनीय है। पारिवारिक सदाचाररूपी धर्ममें एक गृहस्वामी ही हिन्दुशास्त्रके अनुसार एक

छोटासा राजा समझा गया है। प्रथम तो पारिवारिक सुप्रबन्ध ही व्यष्टिरूपसे राज्यको सुरक्षित करता है। इस प्रकार धर्मरज्जुसे ंधा हुआ पारिवारिक अनुशासन पृथ्वीकी किसी जातिमें विद्यमान नहीं है। द्वितीयतः हिन्दुसमाजके समाजिक नेताके माननेके सदाचार हिन्दु समाजमें शास्त्र द्वारा संरक्षित हैं। इन दोनोंके द्वारा राजानुशासन प्रणालीमें स्वतः ही बड़ी भारी सहायता मिलती है। प्रवृत्तिरोधक वर्णधर्म और निवृत्तिपोषक आश्रमधर्म इन दोनोंका हिन्दुजातिके साथ जो ओतप्रोत घनिष्ठ सम्बन्ध है उसके द्वारा एक वर्ण अन्य वर्णका, एक आश्रम अन्य आश्रमका पोषण करता हुआ समाज और राज्यको पूर्ण रूपसे आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता स्थापन करनेमें सहायता करता है। वर्णधर्म और आश्रमधर्म्मकी शैली ऐसी अपूर्व और दैवी विज्ञानसे जकड़ी हुई है कि इसके द्वारा स्वतः ही न प्रजा अपनी मर्यादाको छोड़ सकती है और न राजा अपनी मर्यादाको छोड़ सकता है। वर्ण गुरु ब्राह्मण जिस प्रकार वर्णोंको नियमबद्ध रखते हैं उसी प्रकार आश्रमगुरु संन्यासी अपने आध्यात्मिक उपदेश द्वारा वर्ण और आश्रम दोनोंमें किसी प्रकारका विप्लव होने नहीं देते और ये दोनों वर्ण और आश्रमकी विभूतियां राजाको अपने राजधर्म्मसे कदापि निरंकुश नहीं होने देतीं। और साथ ही साथ ये दोनों प्रजाको अपने धर्मपालन करानेके लिये स्वतः ही भारप्राप्त हैं। राजाकी दिनचर्या, राजाका आचार, राजाका प्रजापालन, राजाकी मन्त्री समाज संगठनप्रणाली, राजाकी राजनीति, राजाकी युद्धनीति और राजाकी धर्मनीति आदि जिस प्रकार वेद और शास्त्रके द्वारा सुदृढ़ और सुरक्षित कर दी गई हैं उसके द्वारा आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता स्थापनमें कभी विप्लव हो ही नहीं सकता। यूरोपीय वर्त्तमान राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली और प्राचीन हिन्दु राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली इन

दोनोंमें विलक्षणता इतनी ही है कि यूरोपीय राजतन्त्र राज्य-शासनप्रणालीमें केवल प्रजाशक्ति अपने विचारके फलको राजाके मुखसे कहलवाकर आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता चिरस्थायी रखनेका यत्न करती है; और प्राचीन हिन्दु राजतन्त्र राज्यशासन प्रणालीमें पूर्वकथित सब सिद्धान्त वेदाज्ञा रूपसे धर्मशास्त्र द्वारा धर्मरूपसे जकड़े हुए हैं। यूरोपीय राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली मानवीय विचारानुसार परिवर्तनशील है, परन्तु प्राचीन भारतीय राजतन्त्र राज्यशासन प्रणालीके नियम अपरिवर्तनीय और चिरस्थायी हैं, वे सब वेदवत् पालनीय होनेके कारण हिन्दुराजा और प्रजा उनको अपने इहलोक और परलोक दोनों प्रकारके कल्याणके लिये माननेको बाध्य हैं। यद्यपि एक राजानुशासन प्रणाली केवल राजनीतिकी भित्तिपर और दूसरी राजानुशासन प्रणाली केवल धर्मनीतिकी भित्तिपर स्थित है, परन्तु दोनोंमें कुछ कुछ सादृश्य विद्यमान होनेके कारण भारतको यूरोपीय राजानुशासन प्रणालीको व्यवस्था मिली है। अब इस व्यवस्थाके चिरस्थायी अथवा अल्पकाल स्थायी होनेके हेतुके विषयमें पूज्यपाद महर्षियोंने क्या क्या उपदेश दिया है, सो नीचे क्रमशः बताया जाता है।

आर्यशास्त्रमें राजा और प्रजाके स्वरूप तथा परस्परके प्रति कर्तव्योंके विषयमें अनेक उपदेश किये गये हैं। श्रीभगवान् मनुजीने कहा है:—

अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः॥
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः॥
यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा॥

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥

संसार अराजक होनेसे सभी लोग भयसे व्याकुल हो जाते हैं इसलिये चराचर जगत्‌की रक्षाके अर्थ परमात्माने राजाको उत्पन्न किया है। इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर इन अष्ट दिक्‌पालोंके अंशोंसे राजाकी सृष्टि होनेसे राजा निजतेजके द्वारा समस्त प्राणियोंको अभिभूत करते हैं। राजा बालक होनेपर भी साधारण मनुष्य जानकर उपेक्षणीय नहीं है, क्योंकि वे नररूपधारी महान् देवता हैं। इन सब देवताओंके अंशोंसे राजशरीर उत्पन्न होता है। इसलिये इन देवताओंके गुण भी राजामें विद्यमान हैं, यथा—शुक्रनीतिमें:—

जङ्गमस्थावराणां च ह्यीशः स्वतपसा भवेत्।
भागभाग्रक्षणे दक्षो यथेन्द्रो नृपतिस्तथा ॥
वायुर्गन्धस्य सदसत्कर्मणः प्रेरको नृपः।
धर्मप्रवर्त्तकोऽधर्मनाशकस्तमसो रविः ॥
दुष्कर्मदण्डको राजा यमः स्याद् दण्डकृद् यमः।
अग्निः शुचिस्तथा राजा रक्षार्थं सर्वभागभुक् ॥
पुष्यत्यपां रसैः सर्वं वरुणः स्वधनैर्नृपः।
करैश्चन्द्रो ह्लादयति राजा स्वगुणकर्मभिः ॥
कोषाणां रक्षणे दक्षः स्यान्निधीनां धनाधिपः ॥

राजा इन्द्रकी तरह निज तपस्याके द्वारा स्थावरजङ्गमात्मक संसारके अधीश्वर रक्षाकार्यमें दक्ष होते हैं और जिस प्रकार इन्द्र यज्ञभागको ग्रहण करते हैं उस प्रकार राजा भी प्रजाको सम्पत्तिके भागग्रहीता होते हैं। जिस प्रकार वायु गन्धके प्रेरक होते हैं, उसी प्रकार राजा भी सदसत्‌कार्यके प्रेरक होते हैं। जिस प्रकार सूर्यके द्वारा प्रकाशका विस्तार और अन्धकारका नाश होता है उसी प्रकार राजा भी धर्मके प्रवर्त्तक और अधर्मके नाशक होते हैं। जिस प्रकार

यमराज पापकर्मके दण्ड दिया करते हैं, उसी प्रकार राजा भी दुष्कर्मके दण्डदाता हैं। अग्निदेवकी तरह राजा पवित्र होते हैं और रक्षा करनेके हेतु सकल भागके भोक्ता होते हैं। जिस प्रकार वरुण जलके द्वारा समस्त संसारकी पुष्टि करते हैं, उसी प्रकार राजा भी निज धनके द्वारा प्रजाको पुष्ट करते हैं। जिसप्रकार चन्द्रदेव किरणजालके द्वारा जीवगणको आह्लादित करते हैं, उसी प्रकार राजा भी निजगुणकर्मके द्वारा प्रजाको आनन्द दान करते हैं। जिस प्रकार कुबेर समस्त रत्नधनोंकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार राजा भी निज कोषकी रक्षामें निपुण हुआ करते हैं। इस प्रकारसे देवताओंके अंशसे संसारकी रक्षाके लिये जगत्पालक श्रीभगवान्के प्रतिनिधिरूपसे प्रकट राजा अष्टलोकपालोंकी सद्गुणावलीके द्वारा विभूषित होते हैं। उपर्युक्त दैवी शक्तियोंके केन्द्र होनेसे तत्तत् शक्तिके अनुसार प्रजाके प्रति राजाका क्या कर्तव्य होना चाहिये, इस विषयमें भगवान् मनुजी कहते हैं:—

इन्द्रस्याऽर्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च ।
चन्द्रस्याऽग्नेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत् ॥
वार्षिकांश्चतुरो मासान् यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति ।
तथाऽभिवर्षेत्स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन् ॥
अष्टौ मासान्यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः ।
तथा हरेत्करं राष्ट्रान्नित्यकर्मव्रतं हि तत् ॥
प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः ।
तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम् ॥
यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्तकाले नियच्छति ।
तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम् ।
वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एवाऽभिदृश्यते ।
तथा पापान्निगृह्णीयाद् व्रतमेतद्धि वारुणम् ॥
परिपूर्णं यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः ।
यथा प्रकृतयो यस्मिन्स चान्द्रव्रतिको नृपः ॥

प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात्पापकर्मसु ।
दुष्टसामन्तहिंस्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम् ॥
यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम् ।
तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पार्थिवव्रतम् ॥

राजाको इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्र, अग्नि और पृथ्वीके वीर्यानुरूप चरित्रका अवलम्बन करना चाहिये। इन्द्रदेव चौमासेमें जिस प्रकार यथेष्ट जलवृष्टि करते हैं, उसी प्रकार राजाको इन्द्रका व्रत धारण करके प्रजाके द्वारा प्रार्थित सकल विषयोंकी वृष्टि करनी चाहिये। सूर्यदेव आठ मासतक अपनी किरणोंसे जिस प्रकार जलशोष धीरे धीरे करते हैं, उसी प्रकार सूर्यका व्रत धारण करके प्रजासे राजाको धीरे धीरे कर ग्रहण करना चाहिये। वायुदेव जिस प्रकार भूतमात्रमें प्रविष्ट होकर विचरण करते हैं, उसी प्रकार गुप्तचरोंको चारों ओर भेजकर राजाको वायुव्रत धारणकर राजकार्यका पर्यवेक्षण करना चाहिये। समय आ पड़नेपर यम जिस प्रकार प्रिय अथवा द्वेष्यका विचार नहीं करते, उसी प्रकार राजाको दण्डविधानके समय प्रिय वा द्वेष्यका नहीं, किन्तु न्यायका विचार करना चाहिये। इस व्रतका नाम यमव्रत है। वरुणका पाश बड़ा दृढ़ होता है, राजा भी पापी पुरुषोंको बांधकर वरुण व्रतका पालन करें। पूर्ण चन्द्रके दर्शनसे जिस प्रकार लोग प्रसन्न होते हैं, उस प्रकार जिसकी प्रजा अपने राजाको देख आनन्दित होती है, वह राजा चन्द्रव्रतधारी है। जो राजा पापियोंपर प्रताप दिखानेवाला, नित्य तेजस्वी और दुष्ट सामन्तोंके लिये हिंसाशाली हो, उसे आग्नेय व्रतधारी कहते हैं। पृथ्वी जिस प्रकार सब भूतोंको समान भावसे धारण करती है, उसी प्रकार जो राजा सकल प्रजाका समान भावसे पालन करता है, उसे पार्थिवव्रतधारी समझना चाहिये। इन सब गुणोंसे युक्त राजा अवश्य ही जगत्पिता

परमेश्वरके प्रतिनिधिस्वरूप तथा परम माननीय हैं। जिनमें ये सब गुण न हों उनके विषयमें शुक्रनीतिमें लिखा है—

यो हि धर्मपरो राजा देवांशोऽन्यश्च रक्षसाम्।
अंशभूतो धर्मलोपी प्रजापीड़ाकरो भवेत्॥

धर्मपरायण प्रजारञ्जक राजाको ही देवांशोत्पन्न समझना चाहिये। अधार्मिक प्रजापीड़क राजा राक्षसके अंशसे उत्पन्न है। प्रजापीड़नके फलसे क्या क्या अनर्थ उत्पन्न होता है इसके विषयमें याज्ञवल्क्य महर्षिने कहा है—

प्रजापीड़नसन्तापात् समुद्भूतो हुताशनः।
राज्यं कुलं श्रियं प्राणान् नाऽदग्ध्वा विनिवर्त्तते॥

प्रजापीड़नजनित सन्तापसे उत्पन्न अग्नि राजाके राज्य, कुल, स्त्री और प्राणको दग्ध किये बिना निवृत्त नहीं होती है। प्रजारञ्जक राजाके प्रति प्रजाके कर्त्तव्यके विषयमें भीष्मपितामहजीने भी महाभारतमें बहुत कुछ उपदेश किया है यथा शान्तिपर्वमेंः—

यस्याऽभावेन भूतानामभावः स्यात् समन्ततः।
भावे च भावो नित्यं स्यात् कस्तं न प्रतिपूजयेत्॥
यस्तस्य पुरुषः पापं मनसाऽप्यनुचिन्तयेत्।
असंशयमिह क्लिष्टः प्रेत्याऽपि नरकं व्रजेत्॥
नास्याऽपवादे स्थातव्यं दक्षेणाऽक्लिष्टकर्मणा।
न हि राज्ञः प्रतीपानि कुर्वन् सुखमवाप्नुयात्॥
तस्य सर्वाणि रक्ष्याणि दूरतः परिवर्जयेत्।
मृत्योरिव जुगुप्सेत राजस्वहरणान्नरः॥

जिनके न रहनेसे सर्वत्र जीवोंका अभाव और रहनेसे जीवोंकी स्थिति रहती है ऐसे राजाकी कौन नहीं पूजा करेगा? जो मनुष्य ऐसे राजाके लिये मनसे भी पाप चिन्ता करेगा वह निश्चय ही इहलोकमें क्लेशयुक्त और परलोकमें नरकमें जायगा। बुद्धिमान् पुरुष-

को राजाके किसी प्रकारके अपवादमें भी संश्लिष्ट नहीं रहना चाहिये। उनकी इच्छाके विपरीत आचरण करनेसे प्रजाको कभी सुख प्राप्त नहीं होता है। उनकी सम्पत्तिके प्रति कदापि लोभ नहीं करना चाहिये। राजस्व हरणसे यमराजकी तरह डरना चाहिये। इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें राजा और प्रजा दोनोंका कर्त्तव्य बताया गया है। मन्वादिशास्त्रमें राजाका प्रजाके प्रति कर्त्तव्य बताते समय युग तथा कालके साथ राजाका घनिष्ठ सम्बन्ध वर्णन किया गया है। मनुजीने लिखा है—

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते॥
कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद्वापरं युगं।
कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम्॥

सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि, सभी राजाके चेष्टित हैं अतः राजाको युग कह सकते हैं। राजा जब प्रजाकी श्रीवृद्धिके प्रति आंखें मूद लेता है, तब कलि, जब वह राजकार्यमें जाग्रत रहता है तब द्वापर, जब राजकर्मके अनुष्ठानमें अवस्थित रहता है तब त्रेता और जब यथाशास्त्र कर्मानुष्ठान करते हुए सच्छन्द विचरण करता है तब सत्ययुग प्रवर्तित होता है। महाभारतके शान्तिपर्वमें राजाके साथ कालका अपूर्व सम्बन्ध बताया गया है, यथाः—

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो माभूद् राजा कालस्य कारणम्॥
दण्डनीत्या यदा राजा सम्यक् कार्त्स्न्येन वर्त्तते।
तदा कृतयुगं नाम कालसृष्टं प्रवर्त्तते॥
ततः कृतयुगे धर्मो नाऽधर्मो विद्यते क्वचित्।
सर्वेषामेव वर्णानां नाऽधर्मे रमते मनः॥
योगक्षेमाः प्रवर्त्तन्ते प्रजानां नाऽत्र संशयः।
वैदिकानि च सर्वाणि भवन्त्यपि गुणान्युत॥

ऋतवश्च सुखाः सर्वे भवन्त्युत निरामयाः ।
प्रसीदन्ति नराणाञ्च स्वरवर्णमनांसि च ॥
व्याधयो न भवन्त्यत्र नाऽल्पायुर्दृश्यते क्वचित् ॥
विधवा न भवत्यत्र कृपणो न तु जायते ॥
अकृष्टपच्या पृथिवी भवन्त्योषधयस्तथा ।
त्वक्पत्रफलमूलानि वीर्यवन्ति भवन्ति च ॥
नाऽधर्मो विद्यते तत्र धर्म एव तु केवलम् ।
इति कार्त्तयुगानेतान् धर्मान् विद्धि युधिष्ठिर ॥
दण्डनीत्यां यदा राजा त्रीनंशाननुवर्त्तते ।
चतुर्थमंशमुत्सृज्य तदा त्रेता प्रवर्त्तते ॥
अशुभस्य चतुर्थांशस्त्रीनंशाननुवर्त्तते ।
कृष्टपच्यैव पृथिवी भवन्त्योषधयस्तथा ॥
अर्द्धं त्यक्त्वा यदा राजा नित्यार्थमनुवर्त्तते ।
ततस्तु द्वापरं नाम स कालः सम्प्रवर्त्तते ॥
अशुभस्य यदा त्वर्द्धं द्वावंशावनुवर्त्तते ।
कृष्टपच्यैव पृथिवी भवत्यर्द्धफला तथा ॥
दण्डनीतिं परित्यज्य यदा कार्त्स्न्येन भूमिपः ।
प्रजाः क्लिश्नात्ययोगेन प्रवर्त्तेत तदा कलिः ॥
कलावधर्मो भूयिष्ठं धर्मो भवति न क्वचित् ।
सर्वेषामेव वर्णानां स्वधर्माच्च्यवते मनः ॥
शूद्रा भैक्ष्येण जीवन्ति ब्राह्मणाः परिचर्यया ।
योगक्षेमस्य नाशश्च वर्त्तते वर्णसंकरः ॥
वैदिकानि च कर्माणि भवन्ति विगुणान्युत ।
ऋतवो न सुखाः सर्वे भवन्त्यामयिनस्तथा ॥
ह्रसन्ति च मनुष्याणां स्वरवर्णमनांस्युत ।
व्याधयश्च भवन्त्यत्र म्रियन्ते च गतायुषः ॥
विधवाश्च भवन्त्यत्र नृशंसा जायते प्रजा ।
क्वचिद् वर्षति पर्जन्यः क्वचित् शस्यं प्ररोहति ॥
रसाः सर्वे क्षयं यान्ति यदा नेच्छति भूमिपः ।

प्रजाः संरक्षितुं सम्यग्दण्डनीतिसमाहितः ॥
राजा कृतयुगस्रष्टा त्रेतायां द्वापरस्य च ।
युगस्य च चतुर्थस्य राजा भवति कारणम् ॥
कृतस्य करणाद्राजा स्वर्गमत्यन्तमश्नुते ।
त्रेतायाः करणाद्राजा स्वर्गं नाऽत्यन्तमश्नुते ॥
प्रवर्त्तनाद् द्वापरस्य यथाभागमुपाश्नुते ।
कलेः प्रवर्त्तनाद्राजा पापमत्यन्तमश्नुते ॥
ततो वसति दुष्कर्म्मा नरके शाश्वतीः समाः ।
प्रजानां कल्मषे मग्नोऽकीर्त्तिं पापं च विन्दति ॥

काल राजाका कारण है अथवा राजा कालका कारण है इस प्रकार सन्देह होनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि राजा ही कालका कारण है। जिस समय राजा पूर्ण धर्मानुसार दण्डनीतिके द्वारा राज्य पालन करते हैं उसी समय कालकी प्रेरणासे सत्ययुगका उदय होता है। सत्ययुगके उदय होनेसे सभी वर्णोंकी प्रजाओंका मन धर्मपर होता है और अधर्मका नाम भी नहीं रहता है। प्रजाओंका योगक्षेम निःसन्देह निर्वाह होता है और सभी गुण वेदानुकूल होते हैं। समस्त ऋतु सुखमय और रोगरहित होते हैं और मनुष्योंके स्वर, वर्ण और मन प्रसन्नतामें युक्त रहते हैं। देशमें किसी प्रकारकी व्याधि और अल्पायु नहीं देखा जाता है, नारी विधवा नहीं होती है और कृपणता भी किसीमें नहीं होती है। पृथ्वी कर्षण किये बिना ही शस्य प्रदान करती है और औषधि-समूह भी स्वतः उत्पन्न होते हैं। त्वक्, पत्र, फल और मूल, वीर्य-वान् होते हैं। उस समय कहीं भी अधर्म नहीं होता है और सर्वत्र केवल धर्म ही रहता है। कृतयुगके ये ही सब लक्षण जानने चाहिये। जिस समय राजा दण्डनीतिके तीन अंशका पालन करते हैं और चतुर्थांशका परित्याग करते हैं उस समय त्रेतायुगका उदय होता है। त्रेतायुगके उदय होनेसे एक अंश अशुभ और तीन अंश

शुभ रहता है। पृथ्वी और औषधियां कर्षणके द्वारा ही फल प्रसव करती हैं। जिस समय राजा दण्डनीतिके दो अंशका त्याग-कर प्रजापालन करते हैं उस समय द्वापर युगका उदय होता है। उस समय दो भाग शुभ और दो भाग अशुभ होता है और पृथ्वी कर्षण करनेपर भी अर्द्ध फलको उत्पन्न करती है। जिस समय सम्पूर्ण दण्डनीतिको त्याग करके राजा प्रजाको कष्ट दिया करते हैं उस समय कलियुगका उदय होता है। कलियुगमें अधर्म बहुत होता है। कहीं पर धर्म नहीं दिखाई देता है, समस्त वर्णोंका मन धर्मसे च्युत हो जाता है। उस समय शूद्र भिक्षावृत्ति द्वारा और ब्राह्मण सेवावृत्ति द्वारा जीविका निर्वाह करते हैं, सर्वत्र योगक्षेम-का नाश और वर्णसङ्कर प्रजाकी उत्पत्ति होती है। समस्त वैदिक कर्म गुणहीन हो जाता है, ऋतुओंका ठीक ठीक सुखकर उदय नहीं होता है और सर्वत्र रोग फैलता है। मनुष्योंका स्वर, वर्ण और मन दुर्बल हो जाता है, व्याधिकी उत्पत्ति होती है और लोग अल्पायु होकर मर जाते हैं। नारी पतिहीना और प्रजा नृशंस हो जाती है, वर्षा और शस्यका अभाव हो जाता है और समस्त रसोंका क्षय हो जाता है। इस प्रकारसे राजा ही सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुगके कारण होते हैं। सत्ययुगकर्त्ता राजाको अक्षय स्वर्ग मिलता है, त्रेतायुगकर्त्ता राजाको सक्षय स्वर्गलाभ होता है। द्वापर युगकर्त्ता राजाको कर्मानुसार फल मिलता है और कलियुगकर्त्ता राजा विशेष पापभागी होते हैं। एतादृश दुष्कर्मी राजा अनन्तकाल तक नरकमें वास करता है और अकीर्त्ति और पाप दोनों ही प्राप्त करता है। यही आर्यशास्त्रकथित राजधर्म और प्रजाधर्मका संक्षेप विवेचन है। इसकी ओर दृष्टि रखकर निज निज कर्त्तव्यपालन करनेसे राज्यमें शान्तिस्थापन तथा राजा प्रजा दोनोंको ही परम कल्याण प्राप्त हो सकता है।

कर्म्म-विज्ञान।

(८)

कर्म्मविज्ञान अतिगहन और जटिल है। कर्म्मतत्त्वके विना समझे न सृष्टिप्रकरण समझमें आता है, न जन्मान्तरवादका रहस्य जान पड़ता है, न सूक्ष्मजगत्‌के साथ स्थूलजगत्‌का सम्बन्ध जाना जाता है और न मुक्तितत्त्वका गभीरविज्ञान हृदयङ्गम हो सकता है। कर्म्म ही सृष्टि, सृष्टिधारक धर्म्म और मुक्तिका कारण है; इस कारण कर्म्मतत्त्वको अतिविचारपूर्व्वक समझना उचित है।

कर्म्मविज्ञानके मर्म्मप्रकाशक श्रीभरद्वाजकर्म्ममीमांसादर्शनका सिद्धान्त यह है:—

"प्राकृतिकस्पन्दः क्रिया"

"संस्कारक्रिये बीजाङ्कुरवत्"

प्रकृतिके स्पन्दको क्रिया कहते हैं और संस्कारके साथ क्रिया अर्थात् कर्म्मका वैसा ही सम्बन्ध है जैसा बीजके साथ वृक्षका सम्बन्ध हुआ करता है।

जब ब्रह्मप्रकृति महामाया ब्रह्ममें लीन रहती है उसीको साम्यावस्था प्रकृति कहते हैं। प्रकृतिकी वह स्पन्दनरहित शान्त अवस्था है। जब प्रकृति ब्रह्मसे अलग होकर द्वैतरूपको धारण करती है उस समय उसके सत्त्व, रज, तम, ये तीन गुण अलग अलग दिखाई देने लगते हैं उसीको दर्शनशास्त्रोंमें प्रकृतिकी वैषम्यावस्था कहा है। तीनों गुणोंका स्वभाव है कि, वे एकसे नहीं रहते; अर्थात् ब्रह्मसे अलग हुई प्रकृति शान्त नहीं रह सकती; वह उस समय परिणामिनी होती ही रहती है। यही प्राकृतिक परिणाम कर्म्मको उत्पन्न करता है और यही सृष्टिका कारण है। त्रिगुणमयी प्रकृतिका परिणामिनी होना स्वतः सिद्ध है और प्रकृतिके स्पन्दसे जो क्रिया उत्पन्न होती है उसीको कर्म्म कहते हैं। जैसे बीजसे वृक्ष और

वृक्षसे बीज उत्पन्न होता हुआ वृक्षसृष्टिप्रवाहको अविच्छिन्न रखता है ठीक उसी प्रकार कर्मसे संस्कार और संस्कारसे कर्म्मकी धारा अविच्छिन्न बनी रहती है।

वेदमें कर्म्मको ब्रह्मस्वरूप कहा गया है। समस्त द्वैतप्रपञ्च और आब्रह्मस्तम्बपर्य्यन्त समस्त दृश्यसमूह निःसन्देह कर्माधीन है। ब्रह्माण्डान्तर्गत सब ही वस्तु कर्म्मके अधीन हैं। अव्यक्त दशासे व्यक्त होनेमें कर्म्म ही कारण है, कर्म्महीके अधीन सब कुछ है इसलिये कर्म्मका अधिकार सर्वोपरि है। जैसे ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिमें 'अहं ममेतिवत्' भेद नहीं है; उसी प्रकार ब्रह्मशक्ति और कर्म्ममें भेद नहीं है। कर्म्म ही सत्त्व और तमका उद्भावक होनेसे सत्त्वप्रधानतासे धर्म्म और तमःप्रधानतासे अधर्म्म कहाता है। धर्म्म और अधर्म्मका यही गूढ़ रहस्य है। कर्म्मको जो ब्रह्म कहा है उसका तात्पर्य्य यही है कि कर्म्म ही रूपान्तरमें धर्म्म और अधर्म्म बन जाता है। कर्म्म ही विश्वधारक धर्म्म होकर विश्वको आकर्षण और विकर्षण शक्तिका सामञ्जस्य रखकर ब्रह्माण्डको चलाता है। कर्म्म ही अधर्म्म होकर जीवको नीचेकी ओर गिराता है और कर्म्म ही धर्म्मरूप होकर जीवको मुक्तिभूमिमें अग्रसर करता है इसी कारण कर्म्मको ब्रह्मस्वरूप कहके शास्त्रोंने वर्णन किया है। कर्म्म प्रकृतिके त्रिगुणात्मक स्पन्दनसे उत्पन्न होकर तमकी ओरसे अविद्या बनकर जीवको फांसता है, पुनः वही कर्म्मतरङ्ग जब कालान्तरमें सत्त्वकी ओर पहुंच जाता है तब वही विद्या बनकर जीवको मुक्त करके स्वस्वरूपमें पहुंचा देता है। अथवा यों कहा जाय कि कर्म्म अपने एक ओरके तरङ्गसे जीव प्रवाह उत्पन्न करता है और दूसरी ओरके तरङ्गसे जीवको मुक्तिपदमें पहुंचा देता है।

कर्म्म साधारणतः जैव, ऐश और सहज रूपसे तीनों भागोंमें विभक्त है। इनमें जैवकर्मके जो दो भेद हैं, यथा—शुद्धकर्म्म और अशुद्धकर्म्म, उनमेंसे शुद्धकर्म्मके नित्य, नैमित्तिक, काम्य, अध्यात्म,

अधिदैव, अधिभूत रूपी छः भेदोंका वर्णन पहले हो चुका है। चतुर्दश भुवन और उनमें स्थावरजंगमात्मक विराट् सृष्टिका प्रकट होना सहजकर्म्मके अधीन है। सहजकर्म ही चतुर्विध भूतसङ्घ और देवासुररूपी द्विविध अधिकार सहित अनन्त वैचित्र्यपूर्ण ब्रह्माण्डकी सृष्टि करता है; पुनः जैवकर्मके द्वारा ही कर्म्मभूमि मनुष्यलोक, मनुष्योंके यथायोग्य विविध अधिकार और स्वर्गनरकादि भोगलोककी सृष्टि हुआ करती है। सहजकर्म समष्टिसत्ताके अधीन और जैवकर्म्म जीवोंके अधीन है। सहजकर्म्ममें जीव स्वतः पराधीन है और जैवकर्म्ममें जीव स्वाधीन है। इस कारण मनुष्य सब पाप पुण्यके भोगके अधिकारी होते हैं। इन दोनोंके अतिरिक्त ऐशकर्म्म कुछ विचित्र ही है। ऐशकर्म्म उभयसहायक है और वह केवल अवतारोंमें ही प्रकट होता है।

जब जब दैवीशक्तिको परास्त करके आसुरीशक्ति प्रबल होती है, जब संसारमें ज्ञानको आच्छन्न करके अज्ञान प्रबल हो जाता है, जब असाधुगण साधुओंको सहसा क्लेश पहुँचाने लगते हैं, जब अधर्म्म बढ़नेसे धर्म्मकी ग्लानि होने लगती है और जब मनुष्यगण परमात्माको भूलकर विषयोन्मत्त और इन्द्रियपरायण हो जाते हैं तब जीवोंके कल्याण करनेके लिये श्रीभगवानका अवतार होता है। इसमें समष्टि संस्कार ही कारण है।

प्रकृतिके स्वाभाविक स्पन्दनसे सहज कर्म्म अपने आप ही उत्पन्न होता है और उसी स्वभावके अधीन होकर सहजकर्म्मसे जीव उत्पन्न होता हुआ उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज इन चार प्रकारके भूतसंघकी चौरासी लक्ष योनियोंमें भ्रमण करता हुआ आगे बढ़ता है। जीव-प्रवाह उत्पन्न करना और इन चौरासी लक्ष जड़योनियोंमें उसे आगे बढ़ाना, यह सहज कर्म्मका कार्य्य है। जब जीव पूर्णावयव होकर अपने पांचों कोषोंको पूर्ण करता हुआ मनुष्ययोनिमें आ जाता है, तब पिण्डका ईश्वर बन जानेसे और अपनी

इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार बन जानेसे वह पाप पुण्यका अधिकारी होकर जैवकर्मका अधिकारी हो जाता है। यही जैवकर्म मनुष्य-योनिधारी जीवको प्रेतलोक,नरकलोक,स्वर्गलोक और पितृलोक आदि लोकोंमें घुमाकर आवागमन चक्रमें परिभ्रमण कराता रहता है। और सृष्टिकी रक्षाके लिये देवता लोग जो कार्य करते हैं, और अवतारादिक जो कार्य्य करते हैं वे सहजकर्म और जैवकर्मके सहायक ऐश कर्मके वशीभूत होकर किया करते हैं। यही कर्मके तीन भेदोंका गूढ़ विज्ञान है। सब कर्म ही बीज और अंकुरके समान संस्कारसे सम्बन्धयुक्त हैं, उसका विज्ञान यह है यथा शक्तिगीतामें—

बीजञ्च कर्म्मणो ज्ञेयं संस्कारो नात्र संशयः।
मम प्रभावतो देवाः! व्यष्टिसृष्टिसमुद्भवे॥
चिज्जडग्रन्थिसम्बन्धाज्जीवभावः प्रकाशते।
स्थानं तदेव संस्कार–समुत्पत्तेर्विदुर्बुधाः॥
सृष्टेः संस्कार एवास्ति कारणं मूलमुत्तमम्।
प्राकृतोऽप्राकृतश्चैव संस्कारो द्विविधो मतः॥
स्वाभाविको हि भो देवाः! प्राकृतः कथ्यते बुधैः।
अस्वाभाविकसंस्कारस्तथाऽप्राकृत उच्यते॥
स्वाभाविकोऽस्ति संस्कारस्तत्र मोक्षस्य कारणम्।
अस्वाभाविकसंस्कारो निदानं बन्धनस्य च॥
स्वाभाविको हि संस्कारस्त्रिधा शुद्धिं प्रयच्छति॥

कर्म्मका बीज संस्कार है इसमें सन्देह नहीं। प्रकृतिके प्रभावसे व्यष्टिसृष्टि होते समय चित् और जडकी ग्रन्थि बन्धकर जीवभावका जो प्राकट्य होता है वही संस्कार-उत्पत्तिका स्थान है ऐसा विज्ञगण समझते हैं। संस्कार ही सृष्टिका प्रधान मूलकारण है। संस्कार दो प्रकारका होता है-प्राकृत और अप्राकृत। विज्ञलोग प्राकृतको स्वाभाविक और अप्राकृतको अस्वाभाविक कहते हैं, उनमें स्वाभाविक संस्कार मुक्तिका कारण और अस्वाभाविक संस्कार बन्धनका

कारण होता है। स्वाभाविक संस्कार त्रिविध शुद्धिको देते हैं। स्वाभाविक संस्कार अद्वितीय और मुक्तिप्रद होनेपर भी वह षोडशकलाओंसे भलीभांति निश्चय प्रकाशित होता है। इन षोडशकलाओंको अवलम्बन करके कर्मके पारदर्शी ऋषियोंने वैदिक षोडश संस्कारोंसे पवित्र आर्य्यजातिको यत्नपूर्व्वक शुद्ध रक्खा है। अस्वाभाविक संस्कार जीवोंको नियमित बांधा ही करते हैं, उनके बन्धनकारक भेद अनन्त हैं। स्वाभाविक संस्कारकी भूमि जब प्रकट होती है तो वह क्रमशः मनुष्योंको अभ्युदय प्रदान करती हुई अन्तमें मुक्ति देती है।

स्वाभाविक संस्कारके अन्तर्गत षोडश वैदिक संस्कारोंके नाम ये हैं:—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौलकरण, उपनयन, ब्रह्मव्रत, वेदव्रत, समावर्त्तन, उद्वाह, अग्न्याधान, दीक्षा, महाव्रत और अन्तिम अर्थात् सोलवां संन्यास। इनका विस्तृत वर्णन आगेके अध्यायमें किया जायगा। अन्यान्य वैदिक, स्मार्त्त, पौराणिक और तान्त्रिक संस्कार इन्हीं सोलह संस्कारोंके अन्तर्भुक्त हैं। उनमें प्रथम आठ संस्कार प्रवृत्तिरोधक हैं और अन्तिम आठ संस्कार निवृत्तिपोषक हैं। इसी कारण विवेकसम्पन्न विमलाशय और ज्ञानसमुद्रको पारगामी संन्यासी समस्त संसारको श्रद्धास्पद हैं। स्वाभाविक संस्कारका पूर्ण विकाश संन्यास आश्रममें होकर मनुष्योंकी मुक्तिका कारण अवश्य बन जाता है।

सहज कर्मके मूलमें स्वाभाविक संस्कार, जैव कर्मके मूलमें अस्वाभाविक संस्कार और ऐश कर्म्मके मूलमें उभयसंस्कार विद्यमान हैं, यही श्रौत संस्कारोंका रहस्य है। सब संस्कार ही सादि-सान्त हैं, इस कारण जीवप्रवाह अनादि-अनन्त होनेपर भी जीव सर्व्वथा उत्पत्ति और मुक्तिशील है। संस्कारजन्य शुद्धि ही मुक्तिकी सहायक है, क्योंकि संस्कारशुद्धिसे कर्मकी शुद्धि और कर्मशुद्धिसे

निर्मल चित्तवालोंकी मुक्ति होती है; इसलिये संस्कारशुद्धिको कैवल्यका कारण कहते हैं। जिस प्रकार बीजसे वृक्ष और वृक्षसे पुनः पुनः बीज होते हुए बीज और वृक्ष सृष्टिक्रमकी अनन्तताको निरन्तर प्रकाशित करते हैं, वैसे ही सृष्टिप्रवाह अनादि-अनन्त है।

परन्तु भर्जित (भुना हुआ) बीज जिस प्रकार अंकुरोत्पत्ति करनेमें असमर्थ है उसी प्रकार कामनाके नाश हो जानेसे संस्कार-समूह भी भर्जित बीजके सदृश होकर ही सर्व्वथा मुक्तिके कारण बन जाते हैं। प्रकृति त्रिगुणमयी है और कर्म्म प्रकृतिस्पन्दनसे उत्पन्न होनेके कारण उसका सहजात है। संस्कार और कर्मबीज अंकुर सदृश हैं, इसलिये संस्कार नष्ट होनेपर कर्मका होना कैसे सम्भव है। सहज कर्म प्रकृतिसे साक्षात् उत्पन्न होनेके कारण जीवोत्पत्तिका भी कारण है और जीवमुक्तिविधायक भी है।

परन्तु जैवकर्म इससे विपरीत होनेके कारण जीवके बन्धनका कारण है और जबतक वह शुभ वैदिक संस्कारोंसे परिशुद्ध होकर हितकारिणी स्वाभाविक दशाको नहीं प्राप्त होता तबतक जीवकी मुक्तिका निश्चय ही पूर्ण बाधक रहता है। धर्मकी धारिका शक्ति और धर्मका अभ्युदय और निःश्रेयस प्रदानका क्रम स्वाभाविक संस्कारमें नित्य बना रहता है। अतः ऊपर लिखित वचनोंसे स्पष्ट हुआ कि संस्कार ही अशुद्ध होता हुआ जीवको बांधता रहता है और पुनः संस्कार ही शुद्ध होता हुआ जीवको मुक्त कर देता है। अशुद्ध संस्कारका नाश करके वेदोक्त संस्कारोंके द्वारा जब संस्कार-शुद्धि जीव प्राप्त करता जाता है तब वह अपने आप उत्तरोत्तर अधिकाधिक धर्मात्मा होता हुआ मुक्तिभूमिकी ओर अग्रसर होता रहता है। संस्कारशुद्धिसे क्रियाशुद्धि और क्रियाशुद्धिसे मुक्ति-भूमिकी प्राप्ति धर्मात्मा जीव कर लेता है। वैदिक नानाविध संस्कार मनुष्यको अधिकसे अधिक धर्मात्मा बनाते रहते हैं। वे वेदोक्त संस्कारसमूह रूपान्तरसे अनेक हो गये हैं, कहीं सोलह

माने गये हैं, कहीं चौबीस माने गये हैं, कहीं न्यूनाधिक माने गये हैं। वेद विज्ञानको लेकर ये शुद्ध संस्कार स्मृति, पुराण और तन्त्रोंमें नाना प्रकारसे वर्णित किये गये हैं और पुण्यके अधिकारके अनुसार विशेष विशेष कर्म संस्कारोंकी प्रधानता मानी गई है यथा—शक्तिगीतामें कहा है कि:—

नारीजातौ तपो मूलः सतीधर्मः सनातनः ।
स्वयमेव हि संस्कारशुद्धिं जनयते ध्रुवम् ॥
वर्णाश्रमाख्यधर्मस्य मर्यादा नितरां तथा ।
नृजातावपि संस्कारशुद्धिं जनयतेतराम् ॥
नार्य्यर्थे पुरुषार्थेश्च धर्मावुक्तावुभावपि ।
स्वाभाविकावतःस्तस्तौ सदाचारावनादिकौ ॥

नारीजातिके लिये तपोमूलक सनातन सतीधर्म्म संस्कारशुद्धिको अपने आप ही उत्पन्न करता है, यह निश्चय है। उसी प्रकार पुरुषजातिमें भी वर्णाश्रमधर्ममर्यादा संस्कार शुद्धिको निरन्तर उत्पन्न करती है। स्त्री और पुरुषके लिये ये दोनों धर्म्म स्वाभाविक हैं; अतः ये दोनों सदाचार अनादि हैं।

इन दोनों सदाचारोंके अवलम्बनसे ही यथाक्रम नारीजाति और पुरुषजाति अभ्युदय और निःश्रेयसको प्राप्त करती है। ये दोनों सदाचार त्रिविधशुद्धिविधायक हैं, सकल स्वाभाविक संस्कारोंके प्रकाशक हैं, सत्वगुणवर्द्धक हैं और अभ्युदय तथा निःश्रेयसप्रद हैं। सतीधर्मके आश्रयसे स्त्री पतिमें तन्मयता लाभ करके बहुकालतक स्वर्गसुख भोगती हुई नारियोनिसे मुक्त होकर उन्नत पुरुषयोनिको निश्चय प्राप्त हो जाती है। वेदविहित वर्णाश्रमधर्मकी सुन्दर रूपसे सेवा करनेसे जगद्गुरु और मान्य समस्त आर्य्यपुरुषगण प्रथमके द्वारा अपनी अनर्गल प्रवृत्तिको रोककर और दूसरेके द्वारा आत्मप्रकाशिका निवृत्तिको बढ़ाकर परममङ्गलमय और नित्य कैवल्यपदको निरन्तर प्राप्त कर लेते हैं। त्रिविध भेद जो कर्म्मके

उत्पन्न होते हैं वे एक ही कर्म्मतरङ्गके रूपान्तर मात्र हैं। एक ही कर्म्मतरङ्ग प्रकृतिहिल्लोलसे उत्पन्न होकर प्रकृतिरूपी नदीके प्रथम तटको छोड़ता हुआ आगे बढ़कर तीन रूपको धारण करता है। वे ही तीन स्वतन्त्ररूपसे सहज, जैव और ऐश नामको प्राप्त होते हैं। पीछे तीनों अलग अलग रूपधारी तरङ्ग अन्तमें नदीके दूसरे तटमें पहुंच कर प्रकृतिमें ही लय हो जाते हैं।

ऊपर लिखित कर्मविज्ञानपर मनन करनेसे कर्म्मकी नियामिका शक्ति, कर्म्मकी धर्म्माधर्म्म शक्ति, कर्म्मकी सर्वव्यापिनी शक्ति और कर्म्मकी अपरिहारिणी शक्तिका भलीभांति पता लग सकेगा। ब्रह्मसे जिसप्रकार ब्रह्मशक्ति महामाया प्रकट होती है उसी प्रकार ब्रह्मशक्तिसे कर्म्म उत्पन्न होता है। ब्रह्मशक्ति जिस प्रकार त्रिगुणरूपमें प्रकट रहती है, कर्म्म भी उसी प्रकार तीन रूपमें प्रकट रहता है यही कर्मका अपूर्व लोकोत्तर दिव्य प्रभाव है। एक अद्वितीय कर्म्म अपने आप ही क्रमशः तीन तरङ्गोंमें प्रवाहित होता है। सहज दशामें वह समष्टि ब्रह्माण्ड और व्यष्टि चतुर्विध भूतोंके सहज पिण्डको उत्पन्न करता है और अन्तमें वही सहज कर्म्म आत्माराम ज्ञानयोगीको जीवन्मुक्त बना देता है। जैव कर्म्मकी दशामें वही जैवकर्म जीवको नरक, प्रेत, पितृ और स्वर्गादिलोकोंमें पहुँचाता रहता है और पीछेसे प्रबल धर्मशक्तिको धारण करके कर्मयोगीको उसके उग्र तपस्या आदिके बलसे सप्तमलोक अर्थात् अन्तिम ऊर्द्ध्वलोकमें पहुँचा देता है। वही कर्म ऐशदशामें जीवको नाना आसुरी और देवयोनि प्रदान करता है और पूर्ण शुद्ध होकर अन्तमें ब्रह्माण्डके ईश्वर ब्रह्माविष्णुमहेशका साथी बन जाता है। यह तीनों प्रकारके कर्म्मतरङ्गोंका गूढ़ रहस्य है; परन्तु इतना अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि कर्म्म जब शुद्ध हो जाता है और जब धर्म्म अधर्म्मकी विपरीत गतिको छोड़कर शुद्ध धर्म्मभावमें परिणत होता है तभी वह ज्ञानजननी विद्याका स्थान बनकर जीवको मुक्तिके प्रदान कर-

नेमें समर्थ होता है। वह एकमात्र कर्म पहले जैव, ऐश और सहज रूपसे तीन रूपको प्राप्त करता है और पुनः नित्य नैमित्तिक, काम्य, अध्यात्म अधिदैव अधिभूत, आदि अनेक रूपोंको धारण करता है; परन्तु सबका रहस्य यह है कि कर्म किसी दशामें हो, जब वह आसक्तिसे युक्त होकर मलिन रहता है तबतक वह जीवको बन्धन प्राप्त कराता ही रहता है और जब वह शुद्ध आत्मभावसे युक्त होकर मलरहित और विशुद्ध हो जाता है तब वही जीवदशासे मुक्त करनेवाला बन जाता है। कर्म ही ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति और विलयका कारण है। कर्म ही जीवपिण्डको उत्पन्न करता है और जीवको मुक्त करके पिण्डका लय कर देता है। कर्म ही सबका कारण है।

नित्यकर्म्म ।

(१)

कर्म्मविज्ञानका रहस्य वर्णन करके अब नित्यकर्मके विषयमें कुछ कहा जाता है। नित्य कर्मके लक्षणके विषयमें पहले ही कहा गया है कि जिन कर्मोंके करनेसे विशेष कोई फलप्राप्ति नहीं होती है किन्तु "अकरणात् प्रत्यवायः" अर्थात् न करनेसे पाप होता है उन्हींको नित्यकर्म कहते हैं। नित्यकर्म जीवके नित्यकृत पापनाश तथा जीवको प्रारब्धानुसार प्राप्त पदवीपर प्रतिष्ठित रखनेके लिये किया जाता है इसलिये नित्यकर्मका अनुष्ठान यदि मनुष्य नहीं करेगा तो नित्यकृत पाप बढ़ता बढ़ता मनुष्यको अवश्य ही अपनी पदवीसे च्युत तथा दुर्दशाग्रस्त करावेगा इसमें सन्देह नहीं। नित्यकर्मके साथ पापनिवृत्ति आदिका अधिक सम्बन्ध रहनेसे तथा पुण्यार्जनका साक्षात् सम्बन्ध न रहनेसे नित्यकर्मका ऊपर कथित लक्षण किया गया है; किन्तु इससे यह न समझा जाय कि नित्यकर्म एकबार ही निष्फल जाता है। व्यापक ब्रह्मसत्ताके साथ प्रत्येक

व्यष्टिसत्ताका स्वाभाविक आकर्षण सम्बन्ध है। केवल मायाके विरुद्ध आकर्षण शक्तिके प्रभावसे जीवहृदयमें श्रीभगवान्‌की आकर्षण शक्ति प्रगट नहीं होने पाती। जिस समय जीव अधोगतिकारी कर्मप्रवाहसे अपनेको बचाकर भगवद्राज्यकी ओर अपनी चित्त-वृत्तिको उन्मुख कर रक्खेगा उसी समय वही नित्य आकर्षण शक्ति कार्यकारिणी होकर अनायास ही जीवको अपनी ओर खींचा करेगी इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। नित्यकर्मके द्वारा नित्यकृत पापोंके नाश होनेसे जीवहृदय आत्माकी ओर स्वतः ही उन्मुक्त रहता है और तदनन्तर अनन्तशक्तिमान् श्रीभगवान् अपनी स्नेह-मयी करुणामयी परमा शक्तिके द्वारा उस उन्मुक्तहृदय जीवको स्वतः ही अपनी ओर आकर्षण करते हैं और इसी तरहसे निज-कर्म्मके द्वारा साक्षात् रूपसे कोई फलप्राप्ति न होनेपर भी परोक्ष-रूपसे जीवकी आध्यात्मिक उन्नति अवश्य ही होती है। इसीलिये श्रीभगवान्‌ने गीताजीमें कहा है कि जीव अपने कर्त्तव्यकर्मके अनुष्ठान द्वारा ही उत्तम गतिको लाभ करते हैं, यथा—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

जिस भगवत्‌शक्तिके प्रभावसे जीवोंमें कर्मप्रवृत्ति उत्पन्न होती है और जिसके द्वारा समस्त संसार व्याप्त है, अपने कर्त्तव्य पालन द्वारा उसकी पूजा करके जीव सिद्धिलाभ करता है। नित्यकर्ममें उसी कर्त्तव्यपालनकी आज्ञा पूज्यपाद महर्षियोंने दी है, अतः नित्यकर्ममें पापनाश तथा आत्मोन्नति साधन दोनोंके ही लक्षण विद्यमान हैं। अब नीचे द्विजोंके नित्यकर्म सन्ध्या तथा पञ्चमहायज्ञका रहस्य वर्णन करके ऊपर कथित लक्षणोंकी चरितार्थता की जाती है।

सन्ध्या।

आर्यशास्त्रमें सन्ध्योपासनाकी विशेष महिमा वर्णित की गई है। वेदमें लिखा है—"अहरहः सन्ध्यामुपासीत" प्रतिदिन सन्ध्यो-

पासना करनी चाहिये। मनुसंहितामें लिखा है—"ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुवन्" दीर्घकालतक सन्ध्योपासना करके महर्षियोंने दीर्घायु लाभ किया था और भी—"सन्ध्या उपासिता येन ब्रह्म तेन उपासितम्" सन्ध्योपासनाके द्वारा ब्रह्मकी उपासना होती है; इसका फल क्या होता है इस विषयमें स्मृतिमें कहा है—

सन्ध्यामुपासते ये तु सततं संयतव्रताः।
विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकमनामयम्॥

जो लोग संयमके साथ सन्ध्योपासना करते हैं वे पापरहित होकर अनामय ब्रह्मलोकको प्राप्त हो जाते हैं। इन सब शास्त्रप्रमाणोंके द्वारा सन्ध्यावन्दनकी अतीव उपकारिता बताई गई है। अब ऊपर लिखित सुफलकी प्राप्तिके लिये पूज्यपाद महर्षियोंने संध्याके अन्तर्गत कितने प्रकारके अनुष्ठान किस किस लक्ष्यके साधनार्थ निर्देश किये हैं सो नीचे क्रमशः बताये जाते हैं।

प्रातः सन्ध्यारूपी नित्यकर्मके उद्देश्यके विषयमें पुराणमें निम्नलिखित वचन मिलते हैं—

नत्वा तु पुण्डरीकाक्षं उपात्ताघप्रशान्तये।
ब्रह्मवर्चसकामार्थं प्रातः सन्ध्यामुपास्महे॥

कमलनयन श्रीभगवान् विष्णुको प्रणाम करके सञ्चित पापकी निवृत्ति तथा ब्रह्मतेजकी प्राप्तिके लिये हम प्रातः सन्ध्याकी उपासना करते हैं। इस श्लोकके द्वारा नित्यकर्मरूपी सन्ध्योपासनाके दो उद्देश्य वर्णित किये गये, एक नित्यकृत पापनाश और दूसरा ब्रह्मतेजकी प्राप्ति। सन्ध्याके अन्तर्गत जितने अनुष्ठान हैं उनके द्वारा ये दो उद्देश्य अवश्य ही सिद्ध होते हैं। प्रातः सन्ध्या, मध्याह्न सन्ध्या और सायं सन्ध्या इन तीनों सन्ध्याओंके मन्त्र प्रायः एकसे ही होते हैं और इनके अनुष्ठान भी कुछ विशेष विभिन्न प्रकारके

नहीं होते हैं। इसके सिवाय ऋक्, यजुः, साम इन वेदत्रयोक्त सन्ध्यावन्दनविधि भी ठीक एकरूप न होने पर भी मूलतः एक ही रूप है। यजुर्वेद और सामवेदकी सन्ध्यामें बहुत ही थोड़ा भेद है। ऋग्वेदकी सन्ध्यासे उक्त दोनों सन्ध्याओंमें कुछ अधिक भेद है ऋग्वेदकी सन्ध्यामें ऋचाओंकी संख्या अधिक है और सामवेद तथा यजुर्वेदकी सन्ध्याओंमें, विशेषतः सामवेदकी संन्ध्यामें उन्हीं स्थानोंपर 'नमोऽस्तु' मन्त्र पढ़ दिया जाता है। अतः त्रैकालिक सन्ध्या तथा त्रिवेदीय सन्ध्या सभीके यथाविधि अनुष्ठान द्वारा सन्ध्याके दो उद्देश्य–उपात्त पापनिवृत्ति और ब्रह्मतेज लाभ अवश्य ही सिद्ध होंगे इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। अब नीचे सन्ध्याके अन्तर्गत दशविध क्रियाओंका संक्षेप वर्णन किया जाता है।

१—सन्ध्योपासनाके अन्तर्गत प्रथम क्रियाका नाम मार्जन है। इसमें 'ओं शन्न आपो' इत्यादि मन्त्रोंका उच्चारण करते करते कुशा अथवा इसके अभावमें कनिष्ठा, अनामिका और अङ्गुष्ठ द्वारा मस्तक भूमि और ऊपरकी ओर जलसिञ्चनकी विधि है। यह एक प्रकारका मन्त्रस्नान है जिससे बहिःशुद्धि तथा अन्तःशुद्धि दोनोंही होती है। शुद्धिके विना उपासना नहीं होती है, इसलिये सन्ध्योपासनाका प्रथम अङ्ग यह शुद्धि है। इस मार्जनके मन्त्रमें परम पावन ब्रह्मविभूतिस्वरूप जलके समीप बाह्य मल तथा अन्तर्मल दूर करनेके लिये प्रार्थना की जाती है। सृष्टिकार्य्यमें जल ही प्रथम वस्तु है, वह परम शिवतम रसका प्रतिरूप है, इसलिये जलमें जिस प्रकार शारीरिक मल दूर करनेकी शक्ति है ऐसीही स्नेहमयी जननीकी तरह शरीरपोषण करनेकी शक्ति तथा परमकल्याणमय सब रसोंके मूलरूप ब्रह्ममें संयुक्त कर देनेकी शक्ति है। इसीलिये मार्जनमें जलके निकट इस प्रकारसे प्रार्थना है जिससे सन्ध्योपासकको अवश्यही अन्तर्बहिः शुद्धि तथा ब्रह्मतेजकी प्राप्ति होती है।

२—सन्ध्योपासनाकी द्वितीय प्रक्रियाका नाम प्राणायाम है। इसमें

पूरक द्वारा वायु आकर्षण, कुम्भक द्वारा वायुधारण और रेचक द्वारा वायुरेचन किया जाता है। इन प्रक्रियाओंके क्रमानुसार नाभिदेशमें सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माका ध्यान, हृदयमें पालनकर्त्ता विष्णुका ध्यान और ललाटमें संहारकर्त्ता रुद्रका ध्यान किया जाता है। और साथ ही साथ ऐसी भी धारणा की जाती है कि मैं सूर्यमण्डलान्तर्गत तेजःस्वरूप परब्रह्मका चिन्तन करता हूँ जो संसारदुःखनाशन तथा हमारी बुद्धिवृत्तिके प्रेरक हैं। समस्त विश्व उसीके तेजसे प्रकाशित हो रहा है। इस प्रकारसे प्राणायाम क्रिया द्वारा व्यापक सत्तासे सम्बन्ध स्थापित होकर ब्रह्मतेजप्राप्ति तथा पापनाश होता है। इसीलिये मनुसंहितामें लिखा है—

यथा पर्वतधातूनां दोषान् दहति पावकः ।
एवमन्तर्गतं चैनः प्राणायामेन दह्यते ॥

जिस प्रकार अग्निके द्वारा पार्वत्य धातुओंका मल दूर होता है, उसी प्रकार प्राणायामके द्वारा हृदयस्थित पापका नाश होता है।

३–सन्ध्योपासनाकी तीसरी प्रक्रियाका नाम आचमन है। इसमें हाथमें जल लेकर उसके कुछ अंशको कण्ठके नीचे उतारकर अवशिष्ट अंशको मस्तकपर छिड़क देना होता है। तदनन्तर पूर्वकृत सन्ध्योपासनाके समयसे लेकर वर्त्तमान सन्ध्योपासनाके सयय पर्यन्त शरीर और मनके द्वारा यदि कोई पापकार्य हुआ हो तो उसके सम्पूर्ण विनाशके लिये मन्त्र द्वारा तीव्र इच्छा प्रकट की जाती है। इसमें प्रातःकाल बाह्यजगत्के सूर्यरूपी हृदयस्थित अन्तर्ज्योतिमें, मध्याह्नके समय देह तथा देहीके अतिघनिष्ट सम्बन्धकी धारणा करके जलमें और सायंकालके समय परमात्माके सत्त्वज्योतिःस्वरूप अग्निमें पापकी आहुति देनी होती है। इस प्रकारसे आचमन क्रिया द्वारा अहोरात्रकृत पापोंको दग्ध करके सूर्यास्तमें जीवात्माकी शुद्धि सम्पादन द्वारा ज्ञानशक्ति तथा ब्रह्मतेजका लाभ किया जाता है।

४—सन्ध्योपासनाके अन्तर्गत चतुर्थ क्रियाका नाम पुनर्मार्ज्जन

है। यह क्रिया पूर्वकथित मार्जन क्रियाके अनुरूप ही है। केवल ऋष्यादि स्मरणपूर्वक देह तथा जीवात्माको और भी विशेषरूपसे पवित्र करना ही इसका मुख्य उद्देश्य है।

५—सन्ध्योपासनाकी पञ्चम क्रियाका नाम अघमर्षण है। अघमर्षण शब्दका अर्थ पापनाशन है। इसमें नासिकारन्ध्रके निकट एक गण्डूष जल रखकर मन्त्रोच्चारण करते करते ऐसी चिन्ता करनी होती है कि देहस्थित पापराशि कृष्णवर्ण पापपुरुषके रूपमें इस जलमें मिल गया है और इसीलिये यह जल कृष्ण हो गया है। इस प्रकार चिन्ता करनेके बाद उस जलको दक्षिण हस्तसे वामपार्श्वमें बलपूर्वक फेंक देना चाहिये और चिन्ता करनी चाहिये कि वह पापपुरुष विनष्ट हो गया। यही अघमर्षण क्रिया है।

६—सन्ध्योपासनाकी षष्ठ क्रियाका नाम सूर्योपस्थान है। इसमें परमात्माके साक्षात् विभूतिरूप सूर्यदेवके उपस्थान द्वारा ब्रह्मतेजकी प्राप्ति तथा ज्ञानका उन्मेष होता है। सन्ध्यामें सूर्यके उपस्थानकी जो ऋचाएं हैं उनमेंसे पहला मन्त्र उदय होनेवाले सूर्यके दर्शनसे जीवजगत्में आनन्दोच्छ्वासका अपूर्व प्रकाशक है। यथा—विश्वप्रकाशके लिये रश्मिगण सूर्यको वहन किये लिये आती हैं। सूर्यदेव अन्तरीक्ष और पृथ्वीके नेत्रस्वरूप तथा चराचर जगत्के आत्मास्वरूप हैं। सूर्योपस्थानके समय जिस प्रकारकी मुद्राका प्रयोग किया जाता है उससे जान पड़ता है कि उपासक सूर्यके साथ मिलनेके लिये प्रस्तुत है। इससे उपासकको तेजोलाभ, ज्ञानलाभ तथा पवित्रता लाभ होता है। इसके उपरान्त सूर्यमण्डलके मध्यमें प्रातःकाल गायत्री, मध्याह्नकाल सावित्री और सायंकाल सरस्वती नामसे एक ही महादेवीके त्रिविध रूपोंका जो ध्यान बताया गया है उससे भी ब्रह्मतेज प्राप्ति तथा तत्त्वज्ञानका उन्मेष होता है। इस प्रकारसे पूर्व पूर्व क्रियाओंके द्वारा पापनाशके बाद सूर्योपस्थान क्रियाके द्वारा ब्रह्मतेज प्राप्ति तथा ज्ञानका विकाश होता है।

७–सन्ध्याकी सप्तम क्रियामें गायत्रीका आवाहन, ध्यान और जपकी विधि है। त्रिकालके भेदसे गायत्रीकी अधिष्ठात्री देवता भी तीन हैं, यथा ब्राह्मी, वैष्णवी और माहेश्वरी देवी। इनके पृथक् पृथक् रूप तथा भावके अनुसार ध्यान भी पृथक् पृथक् हैं। उनको अक्षरत्रयमयी, ब्रह्मवादिनी, सनातनी वेदमातृरूपसे आवाहन करके उनकी उपासना तथा उनसे शक्ति मांगी जाती है जिससे सन्ध्योपासकको शक्तिलाभ, ब्रह्मतेजलाभ तथा ज्ञानलाभ होता है। यही सन्ध्यान्तर्गत सप्तम प्रक्रिया है।

८–सन्ध्याकी अष्टम क्रियामें आत्मरक्षा, नवम क्रियामें रुद्रोपस्थान और दशम क्रियामें सूर्यार्घ्यका विधान किया गया है। आत्मरक्षा द्वारा आत्माकी उन्नत स्थितिका लाभ, रुद्रोपस्थान द्वारा तेजोलाभ और सूर्यार्घ्य द्वारा सूर्यदेवताका अन्तिम अभिनन्दन होता है। इस प्रकारसे सन्ध्योपासनारूपी नित्यकर्मके त्रिकालानुष्ठान द्वारा नित्यकृत पापनाश तथा ब्रह्मतेजका क्रमविकाश होता है यही सन्ध्योपासनाका शास्त्रनिर्णित संक्षिप्त रहस्य है।

नित्यकर्मके लक्षण वर्णन प्रसङ्गमें यह बात पहले ही कही गई है कि नित्यकर्मके अनुष्ठान द्वारा जीव नित्यकृत्य पापसे बचकर अपनी प्राक्तनानुकूल उन्नत स्थितिमें दृढ़ रह सकता है और नित्य कर्मरूपसे अनुष्ठेय उपासनादिके द्वारा व्यापक सत्तासे सम्बन्ध बांधकर स्वतः ही आध्यात्मिक उन्नति तथा पूर्णताके पथपर चल सकता है। इसलिये नित्यकर्मके द्वारा यद्यपि किसी प्रकारके संकल्पित फलकी प्राप्ति नहीं होती है तथापि स्वाभाविकरूपसे आध्यात्मिक उन्नति लाभ अवश्य ही होता है। जीवसत्ता सदा ही परिच्छिन्न तथा अनुदार है इस कारण यदि जीव व्यापक सत्ताके साथ अपना तादात्म्य सम्बन्ध स्थापन नहीं करेगा तो कदापि अपनी परिच्छिन्नता और अनुदारताको काटकर ब्रह्मभावको लाभ नहीं कर सकेगा। इसलिये पूज्यपाद महर्षियोंने सन्ध्या तथा पञ्च महायज्ञ-

रूपी नित्यकर्मके द्वारा प्रत्येक गृहस्थके लिये व्यापक सत्ताके साथ सम्बन्धस्थापनपूर्वक आध्यात्मिक उन्नति करनेकी विधि बताई है। सन्ध्याविधिके अन्तर्गत जो दस क्रियाएं हैं उनपर मनन करनेसे स्पष्ट ही विदित होता है कि उन क्रियाओंके द्वारा द्विजगण प्रकारान्तरसे व्यापक ब्रह्मकी ही उपासना करते हैं। जलाधिष्ठात्री देवता, सूर्यात्मा, ब्रह्मशक्तिरूपिणी गायत्री आदिकी उपासना ब्रह्मोपासनाका ही रूपान्तरमात्र है। इस प्रकारसे सन्ध्योपासनाके द्वारा कारण ब्रह्मके साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापन करके पश्चात् पञ्चमहायज्ञके द्वारा कार्यब्रह्मके समस्त अङ्गोंके साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। कार्यब्रह्मके सकल अङ्गोंके अनुसन्धान करनेसे यही देखा जाता है कि कारणब्रह्मकी आध्यात्मिक विभूतिका विकाश ऋषियोंके द्वारा, आधिदैविक विभूतिका विकाश देवताओंके द्वारा, आधिभौतिक विभूतिका विकाश पितरोंके द्वारा, विशेष कलाका विकाश मनुष्योंके द्वारा और साधारण कलाका विकाश जड़ जीवोंके द्वारा होता है। अतः कार्यब्रह्मके साथ तादात्म्य भाव स्थापनके लिये इन पांचोंकी नित्यसेवा सर्वथा कर्त्तव्य है। इसीलिये पञ्चमहायज्ञमें इन पांचोंकी सेवाका रहस्य तथा प्रकार बताया गया है, सो कैसा है यज्ञ तथा पञ्चमहायज्ञके रहस्य वर्णन द्वारा नीचे क्रमशः बताया जाता है।

महायज्ञ।

कार्य और कारणरूपसे धर्मशक्ति और यज्ञ दोनों एक ही पदार्थ हैं इसलिये शास्त्रमें आत्माके उन्नतिकारी सकल प्रकारके पुरुषार्थको ही यज्ञ कहा है। वास्तवमें धर्म और यज्ञ ये दोनों एक दूसरेके पर्य्यायवाचक शब्द हैं। केवल विज्ञानके स्पष्ट करनेके लिये धर्म शब्दको साधारणरूपसे और यज्ञशब्दको विशेषरूपसे व्यवहृत किया गया है। यज्ञ विज्ञानके साथ सृष्टिका कितना सम्बन्ध है सो स्वयं श्रीभगवान्ने गीतामें आज्ञा की है, यथाः—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्ज्जन्यो यज्ञः कर्म्मसमुद्भवः ॥
कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माऽक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्व्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

भूतसमूह अन्नसे उत्पन्न होते हैं, सुवृष्टि द्वारा अन्नकी उत्पत्ति हुआ करती है, यज्ञके द्वारा वृष्टि होती है, यज्ञ कर्म्मसे होता है, कर्म प्रकृतिसे होता है और प्रकृतिका अस्तित्व ब्रह्मसत्ताके द्वारा है इस लिये सर्व्वव्यापी ब्रह्म सदा यज्ञरूपी धर्म-कार्य्यमें प्रतिष्ठित हैं। यही यज्ञके साथ ईश्वरका अलौकिक विज्ञानयुक्त सम्बन्ध है। इसलिये ही मीमांसादर्शनमें यज्ञको साक्षात् ईश्वरका रूप करके वर्णन किया गया है। इसीलिये नारायणोपनिषद्में लिखा है किः—

यज्ञेन हि देवा दिवं गताः यज्ञेनाऽसुरानपानुदन्तः,
यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति, यज्ञे सर्व्वं प्रतिष्ठितम्,
तस्माद्यज्ञं परमं वदन्ति ।

यज्ञके द्वारा ही देवताओंको स्वर्ग प्राप्ति होती है, यज्ञके द्वारा ही आसुरी शक्तिका दमन होता है, यज्ञके द्वारा शत्रु भी मित्र होते हैं और यज्ञमें ही सकल संसारकी प्रतिष्ठा है, इसलिये यज्ञ अति श्रेष्ठ वस्तु है।

प्रकृत विषय महायज्ञका है। यज्ञ और महायज्ञ दोनों एक ही अनुष्ठान होनेपर भी साधारणतः यह भेद बताया जा सकता है कि यज्ञफलरूप आत्मोन्नतिके साथ व्यष्टिका सम्बन्ध प्रधान होनेसे इसमें स्वार्थसम्बन्ध अधिक रहता है, परन्तु महायज्ञका यह महत्त्व है कि इसमें समष्टिसम्बन्ध प्रधान रहनेसे इसका फल जगत्कल्याणके साथ आत्माका कल्याण है। इसलिये महायज्ञमें निःस्वार्थता, निष्कामभाव और हृदयकी उदारताका सम्बन्ध अधिक रहता है। पूज्यपाद महर्षि भरद्वाजने कहा है किः—

यज्ञः कर्म्म सुकौशलम् ।

समष्टिसम्बन्धान्महायज्ञः ।

सुकौशलपूर्ण कर्मको यज्ञ कहते हैं और समष्टि सम्बन्धसे उसीको महायज्ञ कहते हैं ।

अविद्याग्रसित जीवभावको त्याग करके ब्रह्मभावकी उपलब्धि करना जब मनुष्यजन्मका लक्ष्य है तो जिस कार्य्यके द्वारा यह लक्ष्य सिद्ध होगा उसीकी महिमा सर्व्वोपरि होगी इसमें सन्देह नहीं है। जीवभावके साथ ईश्वरभावका यही भेद है कि जीव अल्पज्ञ है और ईश्वर सर्व्वज्ञ हैं, जीव देश, काल और वस्तुसे परिच्छिन्न है और ईश्वर इनसे अपरिच्छिन्न होनेके कारण विभु नित्य एवं पूर्ण हैं, जीव अविद्याके अधीन है और ईश्वर मायाके अधीश्वर हैं, जीवभाव स्वार्थपर एवं साहङ्कार है और ईश्वरभाव परार्थपर एवं निरहङ्कार है, जीवकी सत्सत्ता क्षुद्र है, चित्सता भ्रमजालयुक्त है एवं आनन्दसत्ता मायाकी छायाके कारण अनित्य सुखरूपमें परिणत है; परन्तु ब्रह्मकी सत्सत्ता अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमें परिव्याप्त है, उनकी चित्सत्ता अनन्त ज्ञानमय है और उनकी आनन्दसत्ता मायासे परे, सुख दुःखसे बाहर नित्यानन्दमय है। इसलिये जिस अनुष्ठानके द्वारा जीवभावकी ऊपर लिखी हुई समस्त क्षुद्रता नष्ट होकर विराट्, उदार, पूर्ण, ज्ञानमय, आनन्दमय, निःस्वार्थ, निरहङ्कार, सर्व्वतोव्याप्त ब्रह्मभावके साथ एकता प्राप्ति हो, वह अनुष्ठान सबसे महान्, महत्तर और महत्तम होगा, इसमें सन्देह ही क्या है। प्रस्तावित विषय-महायज्ञ इसी परम महिमासे पूर्ण है, इसलिये ही महायज्ञ महान् है। यज्ञके द्वारा सकाम साधकको बहुधा ऐहिक और पारत्रिक सुख लाभ होनेपर भी महायज्ञके द्वारा आत्माकी शुद्धि और मुक्ति होती है, एवं सब वर्ण और सब आश्रमके लोग इसका अनुष्ठान करके अपवर्ग लाभ कर सकते हैं, जैसा कि नीचे वर्णन किया जाता है।

जिस कार्य्यके द्वारा आत्माका हित होता है उसी कार्य्यके द्वारा सम्पूर्ण जगत्का हित हुआ करता है; अपिच जिस कार्य्यके द्वारा जगत्का हित होना सम्भव है उसी कार्य्यके द्वारा आत्माका भी हित हुआ करता है, क्योंकि ब्रह्माण्डरूपी विराट् देह और पिण्डरूपी जीव देह समष्टिव्यष्टिरूपसे एक सम्बन्धयुक्त हैं। इस कारण अपने हितके विचारसे एवं साथ ही साथ जगत्के अवश्यम्भावी हितके कारण यज्ञरूपी धर्म्म साधन करना परम आवश्यक है। धर्म्मके साथ जीवका इस प्रकार एकत्व सम्बन्ध है कि धर्म्मके साधन न करनेसे अथवा उसके विरुद्धाचरणसे जीव क्रमशः उन्नत न होकर अधोगामी दशाको प्राप्त होता है। इसी कारण वह अधर्मके द्वारा तिर्य्यक् आदि योनि एवं जड़ प्रस्तर तकको प्राप्त हो जाता है। छान्दोग्योपनिषद्में कहा है किः—

य इह कपूयचरणा अभ्य शो ह यत्ते।
कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिम्वा
शूकरयोनिम्वा चाण्डालयोनिम्वा।

जो इस संसारमें नीच आचरण अथवा उसके अभ्यास करनेवाले हैं वे नीचयोनियोंको प्राप्त होते हैं, यथा कुकुर शूकर और नीच चाण्डाल आदि योनियोंको प्राप्त होते हैं। विशेषतः धर्म्मसाधनकी परमावश्यकताके विषयमें श्रीभगवान्ने गीताजीमें स्वयं उपदेश किया है किः—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवाम्भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
इष्टान् भोगान् वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

प्रजापतिने यज्ञ सहित प्रजाकी सृष्टि करके उनसे आज्ञा की कि तुम सब इस यज्ञके द्वारा क्रमशः उन्नतिको प्राप्त करो, इसके द्वारा ही तुम्हारा सकल मनोरथ पूर्ण होगा। यज्ञके द्वारा देवताओंको सन्तुष्ट करो और देवगण तुमको सन्तुष्ट करें। इस प्रकार परस्परके सम्वर्द्धनसे श्रेष्ठ कल्याणको प्राप्त करोगे क्योंकि देवतागण यज्ञके द्वारा सन्तुष्ट होकर ईप्सित भोगको प्रदान किया करेंगे। जो देवताओंके द्वारा प्राप्त पदार्थोंको उन्हें न देकर भोग करते हैं वे चोर हैं। यज्ञशेषभोजी सत्पुरुष सब प्रकारके पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो केवल अपने लिये भोग्य पदार्थोंको पकाता है वह पापी पापको भोग करता है। इस प्रकार वर्णन करके गीताजीमें पुनः वर्णन किया है किः—

एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नाऽनुवर्त्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

इस प्रकार प्रवर्त्तित कर्म्मचक्रका जो अनुगमन नहीं करता है, इन्द्रियपरायण उस पापात्माका जीवन ही वृथा है। विश्व-जीवनको इसी चक्रके साथ मिलाकर प्रकृतिकी कल्याणवाहिनी धारामें समस्त जीवोंका सम्बन्ध बांधकर परमात्माके चिरशान्तिमय चरणकमलकी ओर संसारकी गतिको प्रवाहित करनेके लिये जो शक्ति काम करती है वह महायज्ञकी ही महती शक्ति है। श्रीभगवान्ने गीताजीमें कहा है किः—

मत्तः परतरं नाऽन्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ! ।
मयि सर्व्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

हे अर्जुन ! इस संसारमें मुझसे अलग और कोई वस्तु नहीं है। सूत्रमें मणिगण जैसा समस्त संसार मुझमें ओतप्रोत है। यह सम्पूर्ण विश्व एक ब्रह्मरूपी सूत्रमें मणिके दानेकी तरह ग्रथित है।

सूत्रमें गुँथी हुई मालाका एक दाना भ्रष्ट होनेसे जिस प्रकार समस्त दानें स्वतः ही स्थानभ्रष्ट होजाते हैं, उसी प्रकार विश्वप्राणके अन्तर्गत किसी अंशमें थोड़ासा आघात लगनेसे ही उसकी प्रतिक्रियामें समस्त विश्वप्राण कम्पित, आलोडित और आहत होजाता है। जिस प्रकार स्थूल शरीरके प्रत्येक अङ्ग प्रत्यङ्गके साथ समस्त शरीरका ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध बना हुआ है कि प्रत्येक अङ्ग प्रत्यङ्गके सुखके साथ समस्त शरीरको सुख हुआ करता है और किसी साधारण अङ्ग या प्रत्यङ्गके रुग्ण होनेसे समस्त शरीर रोगी हो जाता है; ठीक उसी प्रकार विराट्के विपुल शरीरमें आब्रह्मस्तम्बपर्य्यन्त समस्त जीव, मनुष्य, देवता, ऋषि, पितर्, सभी अङ्गप्रत्यङ्गरूपसे विराजमान हैं, इस कारण एककी हानिसे सबकी हानि और एकके कल्याणसे सबका कल्याण निःसन्देह हुआ करता है अतः इस विश्व ब्रह्माण्डका कोई अंश उपेक्षाके योग्य नहीं है। स्थूल व्यष्टि जगत् और स्थूल समष्टि जगत्, सूक्ष्म मनोमय व्यष्टि जगत् और सूक्ष्म मनोमय समष्टि जगत्, व्यष्टि कारण जगत् और समष्टि कारण जगत् सब ही एकत्व सम्बन्धसे युक्त हैं इसलिये व्यष्टिका घात प्रतिघात समष्टिमें और समष्टिका घात प्रतिघात व्यष्टिमें अवश्य फलदायी होता है। मेरे प्राणमें जो स्पन्दन होगा उसका तरङ्ग समष्टि प्राणसमुद्रको कम्पित करेगा, समष्टि प्राणसमुद्रका कम्पन मेरे हृदयगत प्राणमें हिल्लोल उत्पन्न करेगा, इसमें सन्देह नहीं। मेरे अन्तःकरणमें जो चिन्ताका तरङ्ग उठेगा उसका प्रतिघात ब्रह्माण्ड अन्तःकरणमें जाकर होगा और उससे विकीर्ण होकर जीवजगत्की समस्त चित्त नदियोंको आलोडित करेगा इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि व्यष्टि और समष्टि अन्तःकरण अभिन्न है। इन सब वैज्ञानिक तत्त्वोंसे यह बात सिद्ध होती है कि, यदि संसारके एक अंशको साधक त्याग देवे तो उससे समष्टि सृष्टिको हानि पहुँचना अवश्य सम्भव है। इसलिये मुमुक्षु मानव जितना ही इस विश्व ब्रह्माण्डके

अपरिहार्य्य नियमके अधीन होकर जीवन पथपर चलता रहेगा, उतना ही वह उस जीवनोन्नतिकारी धर्म्मकी महाशक्तिके साथ अपना सम्बन्ध स्थापन करता हुआ क्रमोन्नतिको प्राप्त करेगा। गान्धर्व्व वेदके ज्ञाता गायकको अपना कण्ठस्वर नियमित करनेके लिये जिस प्रकार सप्तस्वरमय यन्त्रके समष्टि स्वरकी सहायता लेनी पड़ती है उसी प्रकार मनुष्योंको भी अपनी जीवनधाराको नियमित करके मुक्तिकी ओर अग्रसर होनेके लिये अपने जीवनके साथ विश्वजीवनका सम्बन्ध स्थापन करना प्रथम कार्य्य है। इसी वैज्ञानिक तत्त्वको व्यावहारिक जीवनके कार्य्य-कलापके द्वारा उपलब्ध करनेके लिये वेद और शास्त्रमें जो उपाय बतलाया गया है उसे महायज्ञ कहते हैं।

यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि मनुष्योंके क्रमोन्नतिकारी धर्म्मसम्बन्धीय साधनको अर्थात् व्यष्टि जीवोंके उपकारक धर्मसाधनको यज्ञ कहते हैं, और समष्टिरूपी ब्रह्माण्डके तृप्त करने योग्य साधनको महायज्ञ कहते हैं। पूज्यपाद महर्षि अङ्गिराने कहा है किः—

यज्ञमहायज्ञौ व्यष्टिसमष्टिसम्बन्धात्।

व्यक्तिगत व्यष्टि धर्म्मकार्य्यको यज्ञ और सार्व्वभौम समष्टि धर्म्मकार्य्यको महायज्ञ कहते हैं। इसी बातको और प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि जीवस्वार्थके वास्तवमें चार भेद हैं, यथाः—स्वार्थ, परमार्थ, परोपकार और परमोपकार। तत्त्वदर्शी महापुरुषोंका यह अनुभव है कि जीवके ऐहलौकिक सुखसाधनको स्वार्थ कहते हैं और पारलौकिक सुखके लिये जो पुरुषार्थ उसको परमार्थ कहते हैं। दूसरे जीवोंके ऐहलौकिक सुखके साधन करानेमें अपनेको सुखी समझनेका अधिकार जब साधकको प्राप्त होता है उसीका नाम परोपकार है और दूसरे जीवोंके पारलौकिक कल्याण करानेके अधिकारको परमोपकार कहते हैं। स्वार्थ और परमार्थका सम्बन्ध

यज्ञसे है और परोपकार तथा परमोपकारका सम्बन्ध महायज्ञ साधनसे माना गया है। इस कारण महायज्ञका अधिकार और भी उन्नत है, इसीसे उसकी विशेषता कही गई है। निष्काम होकर महायज्ञके साधन करनेसे साधकको मुक्ति प्राप्त हो सक्ती है। संसारमें जितने प्रकारके जगत् कल्याणमूलक निष्काम कर्म्मयोग हैं वे सभी महायज्ञके अन्तर्गत हैं। चाहे ज्ञानकी उन्नति करनी हो, चाहे शक्तिकी उन्नति करनी हो, चाहे स्थूल धन सम्पत्तिकी उन्नति करनी हो, देशभक्ति और धर्मके ऊपर प्रीतिके द्वारा युक्त होकर निष्काम कर्मयोगी जो कुछ कार्य्य करेंगे वे सभी महायज्ञ कहलाएँगे। इस प्रकार भाग्यवान् पक्षपात रहित उदारचेता महायज्ञके अनुष्ठाताकी स्वार्थबुद्धि अपने जीवनको देश और धर्मके लिये उत्सर्ग करनेके कारण क्रमशः नष्ट हो जायगी, देह और इन्द्रियोंके प्रति ममता दूर हो जायगी, क्षुद्र अहङ्कार भाव विलगित हो जायगा और उनका जीवन विश्वजीवनके साथ और उनका प्राण विश्वप्राणके साथ मिलजानेसे उनकी सत्ता विराट् भगवान्‌की व्यापक सत्तामें जगत्‌को ही ब्रह्म जानकर निष्काम जगत्सेवाके द्वारा विलीन हो जानेसे उनको नित्यानन्दमय मुक्तिपद प्राप्त हो जायगा। यही महायज्ञ साधनका चरम फल है। इसमें सकल वर्ण और सकल आश्रमके अधिकारीका अधिकार है।

शास्त्रमें द्विजोंके नित्यकर्म्मरूपसे जो पञ्चमहायज्ञका विधान किया गया है उसके विज्ञानपर संयम करनेसे बुद्धिमान् मनुष्योंको मालूम होगा कि स्मृतियोंमें पञ्चसूना दोषनाशरूप पञ्चमहायज्ञका जो फल वर्णन किया गया है वह केवल उसका व्यष्टि शरीरसे सम्बन्धयुक्त गौण फलमात्र है। पञ्चमहायज्ञका मुख्य फल विश्वजीवनके साथ एकताके द्वारा आत्मोन्नति साधन है। इसलिये इस प्रबन्धमें पञ्चमहायज्ञको ही दृष्टान्त रूपसे लेकर तदन्तर्गत ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ और नृयज्ञके विज्ञानको बतलाते

हुए महायज्ञका महत्त्व प्रतिपादन किया जायगा। श्रीभगवान् मनुजीने कहा है कि:—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥

अध्ययन-अध्यापनका नाम ब्रह्मयज्ञ, अन्न अथवा जलके द्वारा नित्य नैमित्तिक पितरोंके तर्पण करनेका नाम पितृयज्ञ, देवताओंको लक्ष्य करके होम करनेका नाम देवयज्ञ, पशु पक्षी आदिको अन्नादि दान करनेका नाम भूतयज्ञ और अतिथिसेवाका नाम नृयज्ञ है। जो गृहस्थ यथाशक्ति इस पञ्चमहायज्ञका अनुष्ठान करते हैं उनको गृहस्थमें रहनेपर भी पञ्चसूना दोष स्पर्श नहीं करता। देवता, अतिथि, पिता मातादि पोष्यवर्ग, पितृगण और आत्मा इन पांचोंको जो मनुष्य पञ्चमहायज्ञके द्वारा अन्न नहीं देता है उसका जीवन वृथा है। स्वाध्याय और दैव कर्ममें सदा ही युक्त रहना चाहिये, दैवकर्म्ममें युक्त होनेसे मनुष्य चराचर विश्वको धारण कर सकता है; क्योंकि दैवयज्ञमें जो आहुति अग्निमें प्रदान की जाती है सो आदित्यलोकमें पहुंचती है, आदित्यकी तृप्ति होनेसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न और अन्नसे प्रजाकी उत्पत्ति होती है। ऋषि, देवता, पितृ, भूत और अतिथि सभी गृहस्थोंसे आशा रखते हैं, इसलिये उनके प्रति निम्नलिखित कर्त्तव्योंको ज्ञानवान् पुरुषको अवश्य करना चाहिये। वेद और वेदसम्मत शास्त्रोंके स्वाध्यायसे ऋषियोंको, यथाविधि होमके द्वारा देवताओंको, श्राद्धके द्वारा परलोकगत पितरोंको, अन्नके द्वारा मनुष्योंको और बलिके द्वारा भूतोंको तृप्त करना चाहिये। इस प्रकारसे स्मृतिमें पञ्चमहायज्ञके द्वारा समस्त संसारको तृप्त करनेकी विधि बतलाई गई है। अब उस विधिके द्वारा प्रकृति-माताके ऋणसे उऋण होकर विश्वजीवनके साथ अपना सम्बन्ध स्थापन करके मनुष्य कैसे आध्यात्मिक उन्नति और

मुक्तिको लाभ कर सकता है सो एक एक यज्ञका संक्षिप्त रहस्य वर्णन करते हुए नीचे दिखाया जायगा।

(ब्रह्मयज्ञ)

वेद और शास्त्रसम्मत सकल शास्त्रोंका अध्ययन करना ब्रह्मयज्ञ कहाता है। पञ्चमहायज्ञोंमें यह यज्ञ सर्व प्रथम है। विश्वजीवनके साथ प्रत्येक मनुष्यजीवनका तादात्म्य सम्बन्ध रहनेके कारण एकके कार्य्यका दूसरेके फलके साथ एकत्व सम्बन्ध है। इस कारण स्वयं अध्ययन करना अथवा शिष्यके कल्याणार्थ अध्ययन कराना, कार्य्यतः समान फलदायी है। वेदके तीनों काण्ड कर्म्म, उपासना और ज्ञानमेंसे साधनक्रमके अनुसार ज्ञानकी प्रधानता है, इसमें सन्देह नहीं। ज्ञानकी परमावश्यकताका विषय वेदसे लेकर सब शास्त्र ही एकवाक्य होकर स्वीकार करते हैं। मनुष्योंमें केवल ज्ञानकी विशेषता रहनेके कारण मनुष्य अन्य जीवोंमें सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है। सदाचार समूहके अभ्यास द्वारा कार्य्यतः धर्म्मा-नुष्ठानमें रत होनेसे मनुष्य मनुष्यत्व पदका अधिकारी हुआ करता है। पुनः वह धार्म्मिक साधक कर्मकाण्डके साधन द्वारा अपनी बुद्धिको निर्मल करके भगवद्राज्यमें पहुँचकर भगवदुपासनाका श्रेष्ठ अधिकारी होता है। तदनन्तर श्रीभगवान्‌की कृपासे ज्ञाना-धिकार प्राप्त करके त्रितापसे बचकर मुक्तिपदमें पहुँच जाता है। मनुष्यकी क्रमोन्नतिका यही साधारण क्रम है। इसी कारण ज्ञान-यज्ञरूपी स्वाध्यायको वेदोंमें इतनी प्रशंसा की गई है। तैत्तिरीयो-पनिषद्‌में लिखा है, यथाः—

ऋतञ्च स्वाध्यायप्रवचने च।

सत्यञ्च स्वाध्यायप्रवचने च। इत्यादि॥

ज्ञानकी श्रेष्ठताके कारण ही वेदान्तर्गत विभागोंके तारतम्या-नुसार ज्ञानविस्तारकारी उपनिषद्‌भागकी महिमाके अर्थ कहा

गया है कि, ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष यह सब अपरा विद्या है और इन सबोंके अतिरिक्त जिस विद्याके द्वारा परमात्मा ब्रह्मका साक्षात्कार होता है वही सर्व्वश्रेष्ठ परा विद्या है। क्रमोन्नतिमें ज्ञानकी प्रधानताके कारण प्रथम अवस्थासे लेकर शेषावस्था पर्य्यन्त एकमात्र ज्ञानकी ही सर्व्वोपरि आवश्यकता है। प्रथमावस्थामें मनुष्य विना ज्ञानकी सहायता प्राप्त किये असत्को त्यागपूर्व्वक सदाचाररूपी धर्म्माधिकारको प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि प्राकृतिक गुणयुक्त इन्द्रियगण सदा जीवको इन्द्रियसुखकी ओर ही खींचती है, उस समय एकमात्र माता पिता अथवा गुरुका उपदिष्ट धर्म्मज्ञान ही जीवको असत्कर्म्मसे बचाकर सन्मार्गमें स्थित रखता है। तदनन्तर कर्म्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड, इन दोनों परमावश्यकीय अधिकारोंमें भी सदसद्ज्ञान-युक्त ज्ञानके विना साधक कदापि अपनी साधनमर्य्यादा पर यथावत् स्थित नहीं रह सकते हैं।

श्रीभगवान्का अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत, इन त्रिविध शक्तियोंके सम्बर्द्धनार्थ और उनकी प्रसन्नताके लिये ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ और पितृयज्ञका अनुष्ठान किया जाता है। ब्रह्म, ईश और विराट् ये तीन भाव यथाक्रम परमात्माके हैं और यही अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत कहाते हैं। कारणमें जो होता है कार्य्यमें भी वही होता है। इस कारण सृष्टिके समस्त विभागोंका भेद त्रिविध है। इन्हीं आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक सृष्टिके अधिष्ठातृशक्ति अर्थात् चालक यथाक्रमसे ऋषि, देव और पितृगण हैं। पूज्यपाद महर्षिगण आध्यात्मिक ज्ञानविस्तारके कर्त्ता होनेके कारण सर्व्वदा पूजनीय हैं। ज्ञान ही सब सुखोंका मूल है और ज्ञान ही मुक्ति-पद-लाभका कारण है। ऐसे ज्ञानके प्रवर्त्तक पूज्यपाद महर्षिगणके ऋणसे कौन मनुष्यगण उत्तीर्ण हो सकते हैं? कोई भी नहीं। केवल उन महर्षियोंके निकट कृतज्ञता दिखानेके लिये,

उनके सम्वर्द्धनके लिये और यथा कथञ्चित् ऋषिगणके ऋणसे उऋण होनेके लिये ब्रह्मयज्ञ किया जाता है। वे सम्बर्द्धित और प्रसन्न होकर उस देशकी मनुष्यजातिमें आध्यात्मिक ज्योतिरूप ज्ञानका विस्तार किया करते हैं, क्योंकि उनकी प्रसन्नताका फल यही है। महर्षि अङ्गिराने दैवीमीमांसादर्शनमें कहा है किः—

ब्रह्मयज्ञादिभिः प्रोर्जिता ऋषयः ।
तथाविधा ज्ञानस्य वर्द्धकाः ।

ब्रह्मयज्ञादि कर्म्मोंके अनुष्ठानसे ऋषिगण सम्वर्द्धित होते हैं और वे सम्वर्द्धित होकर संसारमें ज्ञानका विस्तार करते हैं। इस कारण आर्य्यजातिमें ब्रह्मयज्ञ साधन करना नित्यकर्म्म और परम-कर्त्तव्य धर्म्ममें परिगणित किया गया है।

(देवयज्ञ)

इष्ट उपासनाके अर्थ भगवत्पूजारूपसे परमात्मा और उनकी शक्तियोंके लक्ष्यसे अग्निमें आहुति प्रदान करनेसे देवयज्ञका साधन हुआ करता है। पञ्चमहायज्ञोंमें यह यज्ञ द्वितीयस्थानीय है।

श्रीभगवान्की अधिदैव शक्तिके सम्बर्द्धनार्थ इस यज्ञका साधन किया जाता है। महर्षि अङ्गिराने कहा है किः—

यज्ञादिभिर्देवाः ।
शक्तिसुखादीनाम् ।

देवयज्ञके अनुष्ठानसे देव-देवियोंका सम्बर्द्धन होता है और वे सम्बर्द्धित होकर संसारमें शक्ति और सुख सम्वर्द्धन किया करते हैं। जिस प्रकार श्रीभगवान्की आध्यात्मिक शक्तिके अधिष्ठाता ऋषि हैं, उसी प्रकार उनकी अधिदैव शक्तिके अधिष्ठाता और अधिष्ठात्री देव-देविगण हैं। देवता बहुत हैं और वे नित्य नैमित्तिक भेदमें विभक्त हैं। रुद्रगण, वसुगण और इन्द्रादिक नित्यदेवता हैं और ग्रामदेवता, गृहदेवता, वनदेवता आदि नैमित्तिक हैं। वस्तुतस्तु

अधिदैव शक्तिकी पूजा ही इस यज्ञके द्वारा होती है। देवता प्रसन्न होनेपर यावत् सुख दान करते हैं। जिन देवताओंकी कृपासे जड़-भावापन्न कर्म्मसे फलकी उत्पत्ति होती है, जिन देवताओंकी कृपासे यावत् सुख और शान्ति प्राप्त होते हैं, जिन देवताओंकी कृपासे मनुष्य अपने भोगोंको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है, और जो देवता-गण सदा ब्रह्माण्डकी यावत् क्रियाओंको यथासमय सुसम्पन्न करके उसकी सुरक्षा करते हैं, ऐसे देवताओंके ऋणसे कौन उऋण हो सकता है? कोई नहीं। श्रीभगवान्‌की आध्यात्मिक शक्तिके परि-चालक ऋषिगण और अधिदैव शक्तिके परिचालक देव-देविगणके सृष्टिके रक्षणार्थ अवतार भी होते हैं। भगवदवतारकी नाईं ऋषि और देवताओंके अवतार भी पूजनीय हैं। देवता और उनके अव-तारोंकी पूजा करनेसे वे सन्तुष्ट होकर समष्टि जगत्‌में शक्ति और सुखका विस्तार करेंगे। देवयज्ञका साधक इस रीति पर देवयज्ञके द्वारा समष्टि जगत्‌में शक्ति और सुख विस्तारका कारण हो सकता है। यही देवयज्ञ साधनका विश्वजनीन भाव है।

(भूतयज्ञ)

पूर्व्वकथित तादात्म्य भाव सम्बन्धीय वैज्ञानिक विचारके अनु-सार कीट, पक्षी, पशु आदि नाना योनियोंके साथ मनुष्यका आध्या-त्मक तादात्म्य सम्बन्ध है, इसके सिद्ध करनेमें दुबारा विचार करनेकी आवश्यकता नहीं। फलतः विश्वजीवनके साथ यदि एकता सम्पादन करना ही धर्म्मका प्रधान लक्ष्य है तो यह मानना ही पड़ेगा कि इस संसारके जीवमात्रकी सेवा करना मनुष्यका कर्त्तव्य है।

कीट, पक्षी, पशु आदिकी सेवारूप यज्ञका नाम भूतयज्ञ है। भूतयज्ञ पञ्चमहायज्ञमें तृतीय स्थानीय है, अर्थात् देवयज्ञ साधनके अनन्तर भूतयज्ञ साधन करनेकी विधि है। एवं ऐसी आज्ञा है कि

देवयज्ञसे बचे हुए अन्नादिके द्वारा पृथिवीपर भूतयज्ञका अनुष्ठान किया जाय और तदनन्तर वह अन्न पशु पक्षी आदिको अथवा गायको खिला दिया जाय। स्थूल दृष्टिसे अन्यान्य जीवगणके साथ मनुष्यजीवनका प्रत्यक्षरूपसे जितना विरोध दिखाई पड़ता है सो केवल अज्ञानका ही कारण है। सूक्ष्मदर्शी एवं दार्शनिक विद्वज्जनके निकट उनके साथ भी समता ही दिखाई पड़ती है। पूज्यपाद श्रीभगवान् वेदव्यासजीने यह आज्ञा की है कि जिस प्रकार व्याघ्र वन-के द्वारा सुरक्षित होता है उसी प्रकार वन भी वनके राजा व्याघ्र द्वारा सुरक्षित हुआ करता है। इस आर्षवाक्यके समझनेके लिये विचार कर सकते हैं कि वनकी वनस्पतियां इस संसारके लिये बहुत ही हितकारी हैं। नाना वृक्ष औषधि और लता गुल्म आदिके द्वारा केवल नाना औषधि एवं ऐश्वर्य्योंकी ही प्राप्ति नहीं होती, किन्तु उनके द्वारा दैवी विभूतियोंकी भी प्राप्ति हुआ करती है। ऐसे हित-कारी वृक्ष आदि वनमें तभी विद्यमान रह सकते हैं कि जब व्याघ्र वनके वृक्षादिको नाश करनेवाले मृगादिकी हिंसा किया करे। यदि च व्याघ्र एक ओर हिंसा करता है परन्तु साथ ही साथ दूसरी ओर संसारके हितार्थ बड़े बड़े कल्याणोंका कारण हुआ करता है। इस प्रकार जितनी चिन्ता की जायगी उतनी ही श्रीभगवान्की अतुल-नीय सार्व्वभौम एकता सम्पादन करनेका सिद्धान्त भावुकको प्रतीत होगा। भूतयज्ञका अधिकार इसलिये नृयज्ञ और पितृयज्ञसे पहले रक्खा गया है कि इन दोनों महायज्ञोंमें स्वार्थ-सम्बन्धरूप सकाम वृत्तिका हो जाना अधिक संभव है। अपिच आत्म-लक्ष्य तथा सार्व्वभौमदृष्टि रहनेसे भूतयज्ञके महत्त्वका एक प्रधान कारण और यह है कि मनुष्यगण बुद्धिजीवी होनेके कारण स्वाधीन भावमें स्थित हैं एवं मनुष्यगण स्वाधीन हैं इसी कारण उनके किये हुए सत् असत् कर्म्मोंका फल श्रीभगवान् उनको भोग कराया करते हैं। अपिच पुत्र अतिशैशव अवस्थासे कुछ

बड़ा हो जानेपर स्वाधीनताको प्राप्त करके जिस प्रकार माताके स्नेह-की न्यूनताका अधिकारी हो जाता है, उसी प्राकृतिक नियमके अनुसार मनुष्यगण स्वाधीन और अन्यान्य जीवगण प्रकृतिमाताके अधीन होनेके कारण ऐश्वरीय प्राकृतिक नियमके साथ मनुष्यगण-की अपेक्षा अन्यान्य जीवगणका कुछ घनिष्ठ सम्बन्ध है; अर्थात् मनुष्यगण प्रकृतिराज्यके अङ्ग होनेपर भी स्वाधीनता पानेके कारण कुछ कुछ अलग बन बैठे हैं, परन्तु पशु पक्षी आदि जीवगण सम्पूर्ण रूपसे प्रकृतिके अधीन रहनेके कारण मूलकारणसे उनका कुछ निकट सम्बन्ध है। फलतः यज्ञ आदिके साधन करनेका तात्पर्य्य केवल विश्व-जीवनके साथ एकता सम्पादन करना है तो यह मानना ही पड़ेगा कि भूतयज्ञ भी परमावश्यकीय है। पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षिगण विश्वब्रह्माण्डके मूल तत्त्वसे पूर्ण रूपसे परिचित थे इसी कारण त्रितापसे तापित जीवगणके कल्याणार्थ ऐसे ऐसे साधनोंकी आज्ञा दे गये हैं।

उद्भिज्ज जातीय औषधि, लता, गुल्म और वृक्षसे लेकर स्वेदज अण्डज जरायुज जातीय सकल प्रकारके प्राणियोंके साथ जब इस ब्रह्माण्डका समष्टि व्यष्टि सम्बन्ध है तो यह माननो ही पड़ेगा कि उनके सम्वर्द्धनसे ब्रह्माण्डका सम्वर्द्धन होता है। सृष्टिके कोई अङ्ग भी उपेक्षा करने योग्य नहीं हैं, उसके एक अङ्गकी सहायतासे सब अङ्गोंकी सहायता मानी जा सकती है, इस विचारसे भूतयज्ञ परम धर्म्म है। दूसरा विचार यह है कि मनुष्य अपने सुखके लिये अनेक जीवोंको कष्ट दिया करता है, यहांतक कि अपनी शरीरयात्रा-के निर्व्वाहके लिये एक मुहूर्त्त भी भूतोंका ऋणी हुए विना नहीं रह सकता। मनुष्योंके प्रत्येक निःश्वासमें कितने लक्ष जीव आत्मबलि देते हैं। मनुष्यकी तृष्णाकी शान्तिके लिये जलान्तर्गत कितने जीव आत्मोत्सर्ग किया करते हैं। यदि मनुष्य निरामिषभोजी भी हो तौ भी उसके खाद्य पदार्थके प्रत्येक ग्रासमें कितने जीवोंका नाश होता

है । अपि च मनुष्योंके सुख-सम्पादनके अर्थ भूतोंको क्लेश दिये विना तो कोई काम ही नहीं चलता, अब थोड़ेही विचारसे समझमें आ सकेगा कि भूतोंके ऋणसे मनुष्य कदापि उऋण नहीं हो सकता है। अस्तु भूतयज्ञ द्वारा मनुष्य तत्तद्भूतरक्षक देवताओंकी सहायता-से उनके सम्वर्द्धनार्थ जो कुछ पुरुषार्थ करेगा सो अवश्य महायज्ञ शब्दवाच्य होने योग्य है।

जगत्पिता ईश्वरकी किन उच्चाधिकारकी शक्तियोंको देवता कहते हैं सो पहले प्रकाशित कर चुके हैं। उन्हीं अन्तर्जगत्सम्बन्धीय सूक्ष्म शक्तिरूप देवताओंकी सहायतासे कार्य्य करनेका अधिक सम्बन्ध इस महायज्ञमें भी रक्खा गया है। मनुष्यके नीचे जितने जीव हैं उनमेंसे प्रत्येक श्रेणीके जीवोंपर एक एक अधिष्ठात्री देवता है। जैसा कि समस्त श्वानोंपर एक देवता, समस्त अश्वोंपर एक देवता, समस्त हाथियोंपर एक देवता, इस तरहसे प्रकृतिके भिन्न भिन्न विभागोंमें अलग अलग पशुजाति, पक्षीजाति और कीट पतङ्ग उद्भि-ज्जादि जातिपर एक एक देवता है। भूतयज्ञमें उन सब देवताओंके नामपर बलि दी जाती है जिससे उन सब देवता या दैवी शक्तियोंके अधीन समस्त पशु पक्षी आदिकी तृप्ति होती है। यही भूतयज्ञका गूढ़ रहस्य है।

(पितृयज्ञ)

पञ्चमहायज्ञोंमें पितृयज्ञ चतुर्थस्थानीय है। अर्य्यमादि नित्य पितर और परलोकगामी नैमित्तिक पितरोंको पिण्डप्रदानादि द्वारा सम्वर्द्धित करनेसे पितृयज्ञ होता है। पितृयज्ञसे अनेक फलोंकी प्राप्ति होती है। महर्षि अङ्गिराजीने कहा है किः—

"पितृयज्ञादिभिः पितरः"। "स्वास्थ्यवीर्य्यादीनाम्"।

पितृयज्ञादिके द्वारा पितृगण सम्वर्द्धित होकर संसारमें स्वास्थ्य और बल आदिका सम्वर्द्धन किया करते हैं।

उन्नत ज्ञानयुक्त मनुष्यका आत्मा जितने उदार भावको धारण करता जाता है उतना ही मानव भूत भविष्यत् और वर्त्तमान, इन तीनों कालोंको एक भावमें स्थित देखनेमें समर्थ हुआ करता है। अङ्गिरा, वसिष्ठ आदि पूज्यपाद आदि पुरुषगण एवं व्यास भरद्वाज आदि पूज्यपाद महर्षिगणकी कृपा मानवगणपर अतुलनीय है। यदि वे कृपापूर्वक इस प्रकार ज्ञानका विस्तार न कर जाते तो मनुष्यगणकी मनुष्यत्व-प्राप्ति करनेकी और कोई भी सम्भावना नहीं थी। विचारशील पुरुषमात्र ही यह स्वीकार करेंगे कि मनुष्य-समाजपर पूज्यपाद महर्षिगणकी कृपा अतुलनीय एवं सर्वोपरि है। इसी प्रकारसे अपने पितृगणके ऋणसे भी मनुष्यगण कदापि उत्तीर्ण नहीं हो सकते। यह माता पिताकी सत् प्रकृतिका ही कारण है कि जिससे उन्नत ज्ञान प्राप्त करनेके उपयोगी उपयुक्त देह मुमुक्षुको प्राप्त होता है एवं परम्परासम्बन्धसे सब पूर्व्वजों-का ऐसा ही कृपासम्बन्ध अवश्य स्वीकार करने योग्य है। ऐसे परम दयालु एवं परम माननीय पितृगणको स्मरणपूर्व्वक उनकी तृप्ति और सम्मानार्थ अन्नोदक प्रदान करनेसे पितृयज्ञका साधन हुआ करता है। अल्पदर्शी मनुष्यगण इस प्रकारके साधनोंके विषयमें नाना प्रकारकी युक्तिशून्य कल्पनाएं किया करते हैं। एवं ऐसी शङ्का करते हैं कि परलोकगामी आत्मा किस प्रकारसे स्थूल पदार्थमय दान ग्रहण करनेमें समर्थ हो सकते हैं। दार्शनिक विज्ञान द्वारा यह स्वतःसिद्ध है कि स्थलसूक्ष्मसम्बन्धयुक्त यह विराट् ब्रह्माण्ड वास्तवतः समष्टि व्यष्टि रूपसे एक अद्वैत भावमें स्थित है, इसी कारण सूक्ष्म समष्टिरूपी मनाराज्यका स्थूल व्यष्टि-रूपी स्थूल शरीरके साथ एवं स्थूल समष्टिके साथ सूक्ष्म शरीरके व्यष्टिभावका एकत्व सम्बन्ध सदा माननीय होनेके कारण अल्प-मति जीवगणके वैसे प्रश्न विचारवान् सूक्ष्मदर्शी पुरुषके निकट उपेक्षाके ही विषय हैं। परलोकगत पितरोंको लक्ष्य करके प्रदत्त

अन्नादिकोंके द्वारा उनकी तृप्ति और प्रेतत्वादिसे मुक्ति कैसे हो सकती है, इसका पूर्ण विज्ञान ग्रान्थान्तरमें वर्णन किया जायगा। परन्तु पञ्चमहायज्ञके साधनके विषयमें वैसे विचार करनेकी कुछ आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि महायज्ञ साधनका लक्ष्य आत्मोन्नति है। अपिच यज्ञरूपी धर्म्मका मुख्य सम्बन्ध क्रिया सिद्धांशके साथ न होकर केवल अपने आत्माके साथ हुआ करता है। विशेषतः पितृयज्ञ साधन करनेकी विधिपर कुछ थोड़ासा मनन करनेपर ही विदित हो सकेगा कि इस महायज्ञके साधनका अति-महान् और सार्व्वभौम लक्ष्य है। शास्त्रमें कहा है, यथाः—

आब्रह्मभुवनाल्लोका देवर्षिपितृमानवाः ।
तृप्यन्तु पितरः सर्वे मातृमातामहोदयः ॥
नरकेषु समस्तेषु यातनासु च ये स्थिताः ।
तेषामाप्यायनायैतद्दीयते सलिलं मया ॥

ब्रह्मलोकसे लेकर समस्त संसार, देवता, ऋषि, पितर, मानव, माता और मातामहादि पितर हमारे किये हुए अनुष्ठानके द्वारा तृप्त हों। समस्त नरकमें यातनायुक्त जितने जीव हैं उनके उद्धारके लिये मैं यह जल प्रदान करता हूं। अतः केवल अपने आत्मीय सम्बन्धयुक्त पितरोंकी ही पूजा करनेकी विधि नहीं है, परन्तु पर-लोक सम्बन्धसे महर्षिगणसे लेकर सब प्रकारके आत्माकी तृप्तिके अर्थ ही इस यज्ञका विधान किया गया है। ज्ञानराज्यके चालक ऋषि, कर्मराज्यके चालक देवता और आधिभौतिक राज्यके चालक पितृगण हैं। अपना शरीर स्वस्थ रहना, आत्मीयोंका शरीर स्वस्थ रहना, देशवासियोंका शरीर स्वस्थ रहना, जगत्के प्राणिमात्रकी आधिभौतिक स्वस्थता, ऋतुओंका ठीक समय पर होना इत्यादि सब नित्य पितरोंका कार्य्य है। अर्य्यमादि नित्यपितर कहाते हैं और पितृलोकमें गये हुए हमारे पूर्व्वज नैमित्तिक पितर् कहाते हैं। इस प्रकारके पितृगणकी तृप्तिके अर्थ जगत्कल्याण बुद्धिसे जो क्रिया

की जायगी वह क्रिया अवश्य महायज्ञपद्वाच्य होगी, इसमें सन्देह ही क्या है।

विचारशील मनुष्यगण तर्पण और पितृयज्ञके मन्त्रोंपर निरपेक्षरूपसे जितना मनन करेंगे उतना ही जान सकेंगे कि केवल सार्व्वभौम मतयुक्त परार्थभाव, जगत्की सेवा और तृप्ति एवं उसके साथ ही साथ विश्वजीवनके साथ ऐक्य सम्पादन करनेके अर्थ यह यज्ञ किया जाता है। वही पितृयज्ञकी परम महिमा है।

(नृयज्ञ)

मनुष्यजीवनके विचारसे जिस प्रकार एक मनुष्य समस्त मनुष्यसमाजका एक अङ्ग होता है उसी प्रकार यह स्थिर निश्चय है कि मनुष्यजीवन विश्वजीवनका एक अङ्ग है। जिस प्रकार शरीरमेंसे एक अङ्गको भी हानि पहुंच जानेसे समस्त शरीर विकलाङ्ग कहलाता है, जिस प्रकार शरीरको पूर्ण नीरोग रखनेके अर्थ मनुष्योंको स्नानादि नाना कार्य्योंके द्वारा शरीरके प्रत्येक अङ्गकी सेवा करनी परमावश्यक है, जिस प्रकार शरीरके किसी एक अङ्गमें यदि कोई रोग उत्पन्न हो तो समस्त शरीरकी शान्ति नष्ट हो जाती है, जिस विचारानुसार शरीरका प्रत्येक अङ्ग ही अहं शब्द वाच्य शरीरके अन्तर्गत समझा जाता है, उसी समष्टि व्यष्टि विचारानुसार जीवजगत्के साथ मनुष्यमात्रका एकत्र सम्बन्ध होना स्वतः सिद्ध है। पुनः यदि सृष्टिकी विशेषतापर ध्यान दिया जाय और यदि विश्वजीवनसे मनुष्यजीवनका तादात्म्य सम्बन्ध माना जाय तो यह मानना ही पड़ेगा कि मनुष्यजीवनके साथ मनुष्यमात्रका ही सबसे नैकट्य सम्बन्ध है। फलतः मनुष्यत्वधर्म्म प्राप्तिके अर्थ अतिथिसेवारूप नृयज्ञका साधन करना प्रथम कर्त्तव्य कर्म है। यदि च सन्न्यासाश्रमधारी मनुष्योंके लिये वेदकी यही आज्ञा है कि सब संसारको अपनी आत्माके समान दर्शन करके समानरूपसे सबकी सेवामें रत

रहें, किन्तु सर्वसाधारण गृहस्थोंके लिये केवल अतिथिसेवा ही युक्तियुक्त समझा गया है। अतिथिसेवाके अर्थ धर्मशास्त्रोंमें ऐसी आज्ञा है कि गृहस्थोंके लिये परमावश्यक अतिथिसेवा है। गृहस्थके घरमें जब अतिथि आवे तो पाद्य अर्घ्य आदिके द्वारा उनकी पूजा की जाय और विधिपूर्व्वक सदाचारके साथ अतिथिको अन्न आदि प्रदान किया जाय। धर्मशास्त्रोंकी ऐसी आज्ञा है किः—

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥

आसनके लिये तृण अर्थात् दर्भासन, विश्रामार्थ भूमि, पानार्थ जल और चौथा प्रियवचन, सद्गृहस्थोंके घरमें इतनी बातें तो अवश्य होनी चाहियें। इस पञ्चम महायज्ञका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि समस्त पृथिवीभरमें जितने मनुष्यसमाज हैं और आज जो जो उपधर्म प्रचलित हैं उन सबोंके निकट अतिथि-सेवा समान-रूपसे आदरणीय है और यह संसार अधिभूत प्रधान होनेके कारण अपने शास्त्रोंमें भी इस यज्ञको सर्व्वोपरि आवश्यकता मानी गई है। यदि गृहस्थ दरिद्रसे भी अति दरिद्र होवै तौ भी कदापि अतिथिसेवासे विरत होना उचित नहीं है। शास्त्रोंमें कहा है किः—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्त्तते।
स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति॥

अतिथि असत्कृत होकर गृहस्थके घरसे लौट जानेपर उस गृहस्थका पुण्य अपने साथ ले जाया करते हैं। कोई वस्तु अतिथिको भोजन न कराकर गृहस्थको कदापि स्वयं भोजन करना उचित नहीं है। अतिथिके प्रसन्न होनेपर गृहस्थको धन, आयु, यश और स्वर्गकी प्राप्ति हुआ करती है। अतिथिको देवता मानकर आसन, घर, शय्या और पान भोजनादि उनकी योग्तानुसार प्रदान करना उचित है। फलतः अतिथिको देवता मानकर सेवा करना योग्य है। विश्वजीवनके साथ अपने आत्माका एकत्व सम्बन्ध स्थापन

करनेसे मनुष्य मुक्तिपद प्राप्त कर सकता है। मनुष्यसमाज भरको अपना रूप देखनेसे साधक पूर्णाधिकारको प्राप्त कर सकता है। श्रीभगवान् वेदव्यासजीने कहा है कि:—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

यह अपना है और यह पराया है ऐसा भाव लघुचेता मनुष्योंका हुआ करता है। उदारचरित महानुभावोंका तो सकल पृथिवी ही कुटुम्बरूप है। मनुष्य इस प्रकारसे अपने संकुचित अहंकार-भावको विस्तृत करते हुए जब अन्तमें अपनेको विश्वरूप समझने लगता है तभी मुक्त होता है। प्रथमावस्थामें मनुष्य अपने सुखसे ही अपनेको सुखी समझता है। तत्पश्चात् क्रमोन्नतिमें वह अपने स्त्रीमित्रादिको सुखी देख सुखी होता है। सदाचारी धार्मिकगण आत्मीय परिजनोंको सुखी देख प्रसन्न होते हैं। स्वदेशहितैषी ज्ञानके उन्नत अधिकारिगण अपने स्वदेशवासियोंको सुखी देख कृतकृत्य होते हैं। उन्नतात्मा पूर्ण ज्ञानी जीवन्मुक्तगण जगत्के मनुष्यसमाज भरको सुखी देखकर सुखी होते हैं। यही आत्माकी क्रमोन्नतिका लक्षण है। अब इस भावको कार्य्यरूपमें परिणत करनेमें कठिनता यह है कि एक मनुष्य कदापि संसार भरके सब मनुष्योंकी सेवा नहीं कर सकता। इसी कठिनताको सुसाध्य करनेके लिये विशेष देश तथा विशेष कालसे परिच्छिन्न मनुष्यकी पूजा करनेको नृयज्ञ कहते हैं; अर्थात् भोजनकाल तक घरपर चाहे किसी जाति वा किसी धर्म्मका मनुष्य क्यों न आवे वह देवतावत् पूजने योग्य है। यही नृयज्ञ है।

सन्ध्यारहस्य, महायज्ञ-विज्ञान और उदाहरणरूपसे आर्य्य-शास्त्रोक्त पञ्चमहायज्ञोंमेंसे प्रत्येकका वैज्ञानिक तत्त्व जो ऊपर प्रकाशित किया गया, उनपर मनन करनेसे सन्ध्याके सम्पूर्ण

रहस्य, यज्ञ और महायज्ञ विज्ञानका भेद, महायज्ञकी विशेषता और महायज्ञ साधनके विषयमें आध्यात्मिक उन्नतिकी रक्षा करनेवाले मनुष्योंका कर्त्तव्य यथावत् परिज्ञात होगा। इसी प्रकारसे सन्ध्या तथा महायज्ञकी महिमाको जानकर अनुष्ठान करनेसे सब श्रेणी सब जातिके मनुष्यमात्र ही अपने मनुष्यत्वके पूर्ण पदपर प्रतिष्ठित हो सकते हैं, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं।

षोड़श संस्कार।

(१०)

कर्मविज्ञान नामक पूर्व प्रबन्धमें संस्कारको दो भागोंमें विभक्त करके अस्वाभाविक संस्कार द्वारा बन्धन और स्वाभाविक संस्कार द्वारा मुक्तिका रहस्य कहा गया है और यह भी बताया गया है कि जिस प्रकार चन्द्रदेव प्रतिपदासे लेकर क्रमशः एक एक कला द्वारा पुष्ट होकर पूर्णिमाके दिन सोलह कलापूर्ण पूर्णचन्द्र कहलाते हैं उसी प्रकार जीव भी गर्भाधानादि सोलह स्वाभाविक संस्कारोंके द्वारा क्रमशः आत्माके राज्यमें अग्रसर होता हुआ अन्तिम संन्यास संस्कार द्वारा पूर्णता प्राप्ति तथा मोक्षलाभ कर सकता है। इसी कारण आर्यशास्त्रमें षोड़श संस्कारोंकी इतनी प्रशंसा पाई जाती है। यथा–

चित्रं क्रमाद् यथानेकैरङ्गैरुन्मील्यते शनैः।
ब्राह्मण्यपि तद्वत्स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकैः॥

जैसे 'चित्र' चित्रकारकी लेखनीके वार वार फिरनेसे अङ्ग प्रत्यङ्ग समन्वित होकर क्रमशः परिस्फुट हो उठता है वैसे ही विधिपूर्वक संस्कारोंके अनुष्ठान द्वारा मुक्तिप्रद ब्राह्मण्यगुणका पूर्ण विकाश होता है। मानव धर्मशास्त्रमें लिखा है:—

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥

वैदिक विधिके द्वारा द्विजोंके गर्भाधानादि षोड़श संस्कार कराने चाहियें। वे संस्कार इहलोक तथा परलोकमें पवित्रतादायक हैं। मनुसंहितामें लिखा है —

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौड़मौञ्जीनिबन्धनैः ।
वैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥

गर्भाधान, जातकर्म, चूड़ाकरण आदि संस्कार द्वारा द्विजोंकी बीज और गर्भसम्बन्धीय अपवित्रता नष्ट हो जाती है। इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें षोड़श संस्कारोंकी भूरि भूरि प्रशंसा की गई है। अब नीचे इन संस्कारोंके रहस्यसहित संक्षिप्त वर्णन किये जाते हैं।

(१) प्रथम संस्कारका नाम गर्भाधान है। पहले ही कहा गया है कि, संस्कारका लक्ष्य ब्राह्मण्यगुणका क्रमविकाश है। गर्भाधान संस्कार इस लक्ष्यकी सिद्धिमें सहायक होता है। सन्तान पितामाताके आत्मा, हृदय तथा शरीरसे उत्पन्न होती है इस कारण पितामाताके स्थूल शरीर अथवा सूक्ष्म शरीरमें जो दोष रहेंगे, सन्तानमें भी वे दोष संक्रामित होंगे। इसी तथ्यको निश्चित करके गर्भग्रहणयोग्यता तथा उपयुक्त कालके निर्णय पूर्वक सन्तानके जन्मके समय जिसमें पितामाताका मन या शरीर पशुभावयुक्त न होकर सात्त्विक दैवभावमें भावित हो इसलिये ही गर्भाधान संस्कारका विधान है। श्रीभगवान्‌ने गीताजीमें लिखा है—

"धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।"

मनुष्यमें धर्मसे अविरुद्ध काम भगवान्‌की विभूति है। पितामाता यदि धर्मभावसे भावित होकर केवल धार्मिक प्रजोत्पत्तिके लक्ष्यसे कामक्रियाका अनुष्ठान करेंगे तभी वह काम धर्माविरुद्ध होगा और उससे संसारका कल्याण होगा। सन्तानोत्पत्तिके समय पितामाताके चित्तमें जिस प्रकार भावका उदय होता है सन्तानका शरीर तथा मन उस भावसे गठित हो जाता है। कामभावके द्वारा कामुक

सन्तान उत्पन्न होती है, वीरभाव तथा वीर पुरुषोंके स्मरण या वीरताकी अधिष्ठात्री देवताके चिन्तन द्वारा वीर सन्तान उत्पन्न होती है, धर्माधिष्ठात्री देवताके चिन्तन द्वारा धार्मिक सन्तान उत्पन्न होती है, बलकी अधिष्ठात्री देवताके चिन्तन द्वारा बलवान् सन्तान उत्पन्न होती है इत्यादि । इसलिये आर्यशास्त्रका सिद्धान्त है कि पितामाता गर्भाधानके समय अपनेको देवभावमें भावित करें, पति अपनेको प्रजापतिका अंश समझे, पत्नी अपनेको वसुमतीकी रूप समझे और देवताओंका चिन्तन पूर्वक गर्भाधान कर्मको सम्पादित करें। गर्भाधानके समय पतिको चाहिये कि पत्नीको इन कई एक मन्त्रोंका अर्थ बतावे । यथा—व्यापक विष्णु गर्भ ग्रहणका स्थान दें, देवशिल्पी त्वष्टा रूपका मिश्रण करें, प्रजापति सिञ्चन करें, सृष्टिकर्त्ता गर्भका संगठन करें, चन्द्रकलाकी देवी गर्भाधान करें, सरस्वती देवी गर्भाधान करें, अश्विनीकुमारगण जिनके अधिष्ठान द्वारा सन्तान आयुः प्राप्त, विनयशील सत्त्वगुणसम्पन्न होती है, वे गर्भाधान करें। इस प्रकारसे देवभाव युक्त होने पर सन्तान अवश्य ही सुलक्षणयुक्त तथा धार्मिक होगी इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। यही गर्भाधान संस्कारका संक्षिप्त रहस्य है । कालके कुटिल प्रभावसे यह उत्तम संस्कार अब नामशेष रह गया है। इस संस्कारमें पशुभावका ही प्रादुर्भाव देखा जाता है ।

(२) द्वितीय संस्कारका नाम पुंसवन है । यह संस्कार तथा परवर्त्ती सीमन्तोन्नयन संस्कार गर्भरक्षाके लिये उपयोगी है। इसलिये गर्भावस्थामें ही ये दो संस्कार किये जाते हैं। मानवी गर्भके विनष्ट होनेके दो समय अति प्रबल होते हैं, यथा–गर्भधारणके अनन्तर तीसरे महीनेसे लेकर चौथे महीनेके बीचमें और दूसरा छठे महीनेसे लेकर आठवें महीनेके बीचमें । अतः इन दोनों समयोंमें विशेष सावधानताके साथ गर्भिणीके गर्भरक्षाकी आवश्यकता होती है। इसलिये शिशुके गर्भमें रहते समय इन दोनों संस्कारोंका विधान है।

पुंसवन संस्कार सीमन्तोन्नयनसे पहले किया जाता है। इसका समय गर्भग्रहणसे तीसरे महीनेके दस दिनके भीतर है। पुंसवनका अर्थ है, पुरुष-सन्तानको उत्पन्न करना। गर्भाशयमें स्थित गर्भसे पुत्र होगा या कन्या होगी, इसका निश्चय चौथे महीने तक नहीं होता; क्योंकि साधारणतः चौथे महीनेके पहिले स्त्री या पुरुषका चिह्न नहीं होता। इस कारण स्त्री या पुरुषका चिह्न प्रकट होनेके पहले पुंसवन संस्कारका विधान है। साधारणतः सभी देशकी स्त्रियां कन्याकी अपेक्षा पुत्रका अधिक गौरव करती हैं; विशेषतः भारतकी स्त्रियां पुत्र सन्तानकी बहुत ही इच्छा करती हैं, इसलिये पितरोंके तृप्त्यर्थ वृद्धिश्राद्ध तथा माङ्गलिक हवनादि समाप्त करके जब पति मन्त्रपाठ पूर्वक गर्भिणीसे कहता है कि—"मित्रावरुण नामक दोनों देवता पुरुष हैं, अश्विनी कुमार नामक दोनों देवता पुरुष हैं और अग्निवायु ये भी दोनों पुरुष हैं। तुम्हारे गर्भमें भी पुरुषका आविर्भाव हुआ है।" तब गर्भिणीका हृदय आनन्दसे प्रफुल्लित हो उठता है। इस आनन्दसे उस समयका अत्यन्त वमन आदिसे उत्पन्न अवसाद एवं भीति और आलस्य आदिसे उत्पन्न विषाद मिट जाता है और गर्भपोषणका बल फिरसे आ जाता है। पुंसवनमें दो वटके फलोंको उर्द और यवके साथ गर्भिणीकी नासिकामें लगाकर सुंघानेकी व्यवस्था है। सुश्रुतादि आयुर्वेद शास्त्रमें उसमें योनिदोषनाश तथा गर्भरक्षाकी शक्ति बताई गई है।

(३) तीसरे संस्कारका नाम सीमन्तोन्नयन है। इसका भी प्रयोजन गर्भरक्षा करना है। गर्भग्रहणके बाद छठे या आठवें महीनेमें यह संस्कार किया जाता है। इसका मुख्यकर्म गर्भिणीके सीमन्तको उखाड़ देना है। सीमन्तके कुछ केश उखाड़ देनेके बाद गर्भिणी स्त्रीको शृङ्गार या सुगन्धादि सेवन नहीं करना चाहिये और पुष्पमाला आदिका धारण तथा पतिसहवास नहीं करना चाहिये।

इस संस्कारमें पतिके वृद्धिश्राद्ध, चरुपाक आदि कर चुकनेपर

एकवृन्त स्थित दो पके हुए उदुम्बरके फल तथा अन्यान्य कई एक मांगलिक पदार्थोंको रेशमी वस्त्रसे गर्भिणीके गलेमें बांधकर पहले यह मन्त्र सुनाते हैं—"तुम इस ऊर्जस्वल उदुम्बर वृक्षसे ऊर्जस्वला बनो। हे वनस्पते ! जैसे पत्तेकी उत्पत्तिसे तुम्हारी समृद्धि होती है, वैसे ही इसमें पुत्ररूप परम धन उत्पन्न हो।" तदनन्तर कुशगुच्छ द्वारा गर्भिणीके सीमन्तभागके केश उखाड़ते समय पति कहते हैं—"जिस प्रकार प्रजापतिने देवमाता अदितिका सीमन्तोन्नयन किया था, उसी प्रकार इस गर्भिणीका सीमन्तोन्नयन कर इसके पुत्र पौत्रादिको मैं जरावस्था पर्यन्त दीर्घजीवी करता हूं।" तदनन्तर पौर्णमासी देवता आदिसे भी इसी प्रकार प्रार्थना, सघृत चरु प्रदर्शन आदि कई एक क्रियायें हैं जिनसे गर्भपोषण, भावी सन्तानका कल्याण तथा गर्भदोष नाश होता है।

(४) चतुर्थ संस्कारका नाम जातकर्म है। वह सन्तानके भूमिष्ठ होते ही किया जाता है। इसका कार्य यह है कि पिता पहले यव और चावलके चूर्ण द्वारा और तत्पश्चात् सुवर्ण द्वारा घिसे हुए मधु और घृतको लेकर सद्योजात सन्तानकी जिह्वामें लगाता है। इस समय पढ़नेका मन्त्र यह है—"यह अन्न ही प्रज्ञा है, यही आयु है, यही अमृत है, तुमको ये सब प्राप्त हो। मित्रा-वरुण तुम्हें मेधा दें। अश्विनीकुमार तुम्हे मेधा दें। बृहस्पति तुम्हें मेधा दें।"

इस मन्त्रमें अन्नके लिये एकवार प्रार्थना है और उसीका सूचक चावल और यवका चूर्ण चखाना है, क्योंकि अन्नके द्वारा ही शरीरकी रक्षा होती है और शरीर रक्षा ही प्रथम धर्मसाधन है। तदनन्तर मेधाके लिये देवताओंसे बार बार प्रार्थना है क्योंकि इसीसे जीव आगेके जीवनमें सब प्रकारकी उन्नतिका अधिकारी हो सकता है।

सुवर्णसे घिसे हुए घृत और मधुको सन्तानकी जिह्वापर लगाने-

में अनेक गुण हैं । सुवर्ण वायुदोषको शान्त करता है, मुत्रको साफ करता है और रक्तकी उद्धर्वगतिके दोषको शान्त करता है। घृत शरीरमें तापको बढ़ाता है, बलकी रक्षा करता है और खुलासा दस्त लाता है। मधु मुखमें 'लार' का सञ्चार करता है, पित्त-कोषकी क्रियाको बढ़ाता है और कफदोषको दूर करता है; अर्थात् यह क्रिया वायुदोषकी शान्तिका, गलनालिका, उदर और आंतोंको सरस बनानेका तथा मलमूत्र निकलने और कफके कम करनेकी क्रिया है। प्रसवकी यन्त्रणाके कारण सद्योजात शिशुके रक्तकी गति ऊपरको हो जाती है, उसके शरीरमें कफका दोष अधिक हो जाता है और उसकी आंतोंमें एक प्रकारका काला काला मल सञ्चित रहता है, वही मल न निकलनेसे अनेक प्रकारकी पीड़ाएँ उपजती हैं। इसलिये डाक्टर लोग भी सद्योजात शिशुके लिये मधुमिश्रित रेड़ीके तेलकी व्यवस्था करते हैं। किन्तु सुवर्णसे मधुमिश्रित घृत एरण्डतेलकी अपेक्षा अधिक उपकारी होता है। इसी लिये आर्यशास्त्रमें ऐसी व्यवस्था है। इस संसारके द्वारा उपपातक अर्थात् पितृ मातृ शरीरज कई एक दोषोंका भी नाश होता है ऐसा आर्यशास्त्रका सिद्धान्त है।

(५) पञ्चम संस्कारका नाम नामकरण है। सन्तानके उत्पन्न होनेके अनन्तर दस रात्रियां बीतनेपर उसका नाम रखना होता है, दस रात्रि छोड़कर नामकरणका तात्पर्य यह है कि सूतिकागृहमें जितने लड़की लड़के मरते हैं उनमेंसे लगभग तीन भाग प्रथम दस रात्रियोंमें ही मर जाते हैं। इसीलिये प्रथम दस रात्रि छोड़ दी गई है। नामकरण संस्कारमें शिशुके जन्मग्रह, नक्षत्र तथा अन्यान्य देवताओंके उद्देश्यसे हवनकर पिताको बालकका नाम कह देना चाहिये। उसमें निम्न लिखित अर्थका मन्त्र है—"तुम कौन हो? तुम्हारी क्या जाति है ? तुम अमृत हो। हे अमृत! तुम सूर्य-सम्बन्धीय मासमें प्रवेश करो। हे अमृत! सूर्य तुमको दिनसे

दिनमें प्राप्त करावें। दिन, रात्रिमें प्राप्त करावे। दिन और रात्रि, पक्षमें प्राप्त करावें। पक्ष, पूर्णमासमें प्रवेश करावें। मास, ऋतुमें प्रवेश करावें। ऋतु सम्वत्सरमें और सम्वत्सर शतवर्षकी सीमा तक पहुंचावें।" इस प्रकारसे दृढ़ मन्त्रद्वारा आत्माका अमृतत्व प्रतिपादन करके सन्तानके लिये अति दीर्घजीवनकी आशा तथा प्रार्थना की गई है। नामकरण संस्कार द्वारा नामकी भिन्नतानुसार जातिका भी निर्णय हो जाता है।

(६) षष्ठ संस्कारका नाम अन्नप्राशन है। पुत्र हो तो छठे या आठवें महीने और कन्या हो तो पांचवें या सातवें महीने यह संस्कार करना चाहिये। इसके द्वारा खाद्य पदार्थके निर्दिष्ट हो जानेसे अन्नसङ्करता दोषका निराकरण होता है। अन्नप्राशनके लिये शुभ दिन देखना होता है। वृद्धिश्राद्ध कर चुकनेपर पिता सन्तानको गोदमें लेकर बैठे और माता वाम भागमें बैठे। तब पिता मन्त्र पढ़ता हुआ हवन करे और फिर सन्तानके मुखमें अन्नका ग्रास दे। "अन्न ही सकल जीवोंका रक्षक है, अन्नपति सूर्यदेव अन्नदान तथा मङ्गलदान करें।" इत्यादि इत्यादि भावार्थबोधक मन्त्र इसमें पढ़े जाते हैं। माताके गर्भमें मलिनता भक्षणका जो दोष लगता है वह अन्नप्राशनसे शुद्ध हो जाता है।

(७) सप्तम संस्कारका नाम चूड़ाकरण है। इसका मुख्य समय शिशुका तीसरा वर्ष है और इसमें प्रधान कार्य केशमुण्डन है। गर्भावस्थामें जो केश उत्पन्न होते हैं उन सबको दूर कर चूड़ाकरणके द्वारा शिशुको शिक्षा तथा संस्कारका पात्र बनाया जाता है। इसीलिये कहा गया है कि चूड़ाकरण द्वारा अपात्रीकरण दोषका निराकरण होता है।

श्राद्ध, हवनादि करनेके बाद सूर्यका ध्यान करते हुए निम्न लिखित भावके मन्त्र इस संस्कारमें पढ़ने होते हैं, यथा—"जिस सुधिति अर्थात् छुरेके द्वारा सूर्यने बृहस्पतिका केशमुण्डन किया

था, जिस सुधितिके द्वारा वायुने इन्द्रका मुण्डन किया था उसी ब्रह्मरूपी सुधिति द्वारा मैं तुम्हारा केशमुण्डन करता हूं। तुम्हें आयु, तेज, बल आदि प्राप्त हों।" इत्यादि इत्यादि।

(८) अष्टम संस्कारका नाम उपनयन है। द्विजातिके बालक इसी संस्कारके द्वारा ज्ञानशिक्षाके उद्देश्यसे शिक्षक आचार्य्यके समीप उपनीत होते हैं। शास्त्रकी विधि यही है कि, ब्राह्मणकुमार पांच वर्षकी अवस्थासे सोलह वर्षकी अवस्था तक इस संस्कारके अधिकारी रहते हैं। क्षत्रियके बालक छः वर्षकी अवस्थासे बाईस वर्षकी अवस्था तक तथा वैश्य बालक आठ वर्षकी अवस्थासे चौबीस वर्षकी अवस्था तक उपनयनके अधिकारी या योग्य रहते हैं। शूद्रको इस संस्कारका अधिकार नहीं है।

उपनयन संस्कारमें यथाविधि श्राद्ध एवं हवनके उपरान्त अनेकानेक अनुष्ठान अनुष्ठित होते हैं एवं अनेकानेक मन्त्रोंका उच्चारण होता है। स्थूलरीतिसे एक एक करके उन मन्त्रोंका तात्पर्य्य एवं अनुष्ठानोंकी विधि कहते हैं।

एक मन्त्रमें अग्निसे कहा गया है—मैं (द्विजातीय बालक) उपनयन व्रतका आचरण करूंगा सो तुम (अग्नि) से निवेदन करता हूं.........इस व्रतके द्वारा अध्ययनरूप समृद्धि प्राप्त करूँगा। मैं मिथ्यावचनसे पृथक् रहूंगा एवं सत्यस्वरूप बन जाऊंगा, मेरी यथेष्टोपचारिता जाती रहेगी एवं मेरा आचार नियत होगा।

वायुदेवता, सूर्य्यदेवता, चन्द्रदेवता एवं इन्द्रदेवतासे भी ठीक येही बातें कहे जानेके कारण इन बातोंकी वारम्बार आवृत्ति होनेसे इनका तात्पर्य्य हृद्गत हो जाता है। उपनयन संस्कारका उद्देश्य सत्यज्ञान एवं सदाचार लाभ अर्थात् मनुष्य-जीवनकी सर्वश्रेष्ठ सार वस्तुकी प्राप्ति है। आर्य्यशास्त्रने उसका जैसा मार्ग दिखाया है उसमें समस्त शिक्षाकार्य्यकी प्रणाली अत्यन्त संक्षेपसे प्रकाशित हुई है। पहले आचार्य्य शिष्यके प्रति दृष्टि-

पात करता हुआ कहे कि—"हे पञ्चदेव! तुम इस सुन्दर माणवक (क्षुद्र मनुष्य) को मुझसे मिला दो। हम दोनों विना किसी विघ्नके परस्पर सम्मिलित हो सकें।" यह बतानेकी कोई आवश्यकता नहीं है कि गुरुशिष्यका सम्यक् सम्मिलित होनाही शिक्षाका प्रथम और प्रधान अनुष्ठान है। तदनन्तर माणवक अर्थात् शिष्य आचार्य्यसे कहता है कि—"मैं ब्रह्मचारी (अर्थात् मैथुन वृत्तिहीन) हुआ हूँ, अतएव मुझको उपनीत करिये, अपने समीप ग्रहण करिये।" तब आचार्य्य माणवक (शिष्य) का नाम आदि पूछता है।

फिर माणवकके अपना नाम आदि (अर्थात् निज नाम, पिता और पितामहका नाम एवं गोत्रादि) बता चुकनेपर आचार्य्य माणवकको निकटस्थ कर (आहूत अग्निके एवं अपने मध्यभागमें अवस्थित कर) दोनों ही अपने २ हाथोंमें (तृप्तिसूचक) अञ्जलीभर जल लेकर एवं आचार्य्य अपने शिष्यको अपने साथ मिलानेके लिये प्रार्थना कर दोनों ही उस अञ्जलीके जलको (एक ही स्थानमें) छोड़ देते हैं। इससे जलके साथ जैसे जल मिल जाता है वैसे ही शिष्य भी मानों गुरुके साथ मिलता है, यह अभिप्राय अभिव्यक्त होता है। फिर आचार्य्य अपने दाहिने हाथसे शिष्यका दाहिना हाथ पकड़ता है। शिष्य समझता है कि उसका हाथ जगत् प्रसविता सूर्य, स्वास्थ्य साधनकारी अश्विनीकुमार एवं पोषणकारी पूषण देवताने ही अपने हाथमें लिया है। ऐसी दशामें आचार्य्य ही उसके लिये जनक, स्वास्थ्यविधायक एवं पोषणकारी है, यह बोध होगा। फिर आचार्य्य कहता है कि—"अग्नि, सविता एवं अर्य्यमा (पितृदेव)—इन्होंने पहले ही हस्तधारणकर तुमको ग्रहण किया है। अग्निदेव ही तुम्हारे आचार्य्य हैं, तुम मेरे अतिप्रियकारी मित्र हो। इस समय तुम सूर्यके आवर्त्तनके अनुरूप मेरी प्रदक्षिणा करते हो।"

शिष्य जब आचार्य्यको प्रदक्षिणा करके उपस्थित होता है तब

आचार्य्य उसकी नाभिको स्पर्श कर कहता है कि,—"हे नाभि! तू विस्रष्ठ न होना, स्थिर रहना। हे अन्तक! इस ब्रह्मचारीको मैंने तुम्हें अर्पण किया, तुमको सौंपा। (नाभिके ऊपरी भागको छूकर) हे अभू ी (वायु)! (वाम भागको छूकर) हे सूर्य्य! (वक्षः स्थलको छूकर) हे अग्नि! (दक्षिण अङ्गको छूकर) हे प्रजापति!—(इसी प्रकार प्रत्येकसे कहता है कि यह मेरा मैं तुमको देता या सौंपता हूं, यह जरा मरणादि किसी दोषको न प्राप्त हो"।) फिर आचार्य्य कहता है कि,–"तुम ब्रह्मचारी हुए हो, हवनके लिये लकड़ी लाओगे, मन्त्रोच्चारणपूर्वक जलपान करोगे, गुरुशुश्रूषा करोगे, दिनको शयन न करोगे" इत्यादि। ब्रह्मचारीको इन सब प्रतिज्ञाओंके पालनका स्वीकार करना होता है।

तदनन्तर ब्रह्मचारी प्रकृत ब्रह्मचारीका वेष धारण करता है, अङ्गोंके वलय आदि अलङ्कारोंको त्यागकर मन्त्रपाठ पूर्वक मेखला धारण, यज्ञोपवीत धारण, अजिन धारण कर गायत्री पाठको ग्रहण करता है। गायत्री-ग्रहणकी रीति यह है कि पहले तीनों व्याहृतियोंको छोड़कर त्रिपदा गायत्रीके एक पदको पढ़े, फिर द्वितीय पदके साथ तृतीय पदको और फिर प्रथम और द्वितीयके साथ तृतीय पदको पढ़कर फिर अन्तमें तीनों व्याहृतियोंके साथ संयुक्त कर पढ़ना चाहिये। बालकोंको श्लोक आदि कण्ठस्थ करनेका ऐसा उत्कृष्ट और उपाय नहीं है। गायत्री पाठके उपरान्त ब्रह्मचारी भिक्षा करें एवं भिक्षामें मिला पदार्थ गुरुकी भेंट करे; तदनन्तर गुरुकी अनुमति लेकर स्वयं भोजन करे।

उल्लिखित संस्कार कार्यों के भीतर कितने गूढ़ तात्पर्य विहित हैं सो विचार कर देखनेसे चमत्कृत होना होता है। (१) गुरु एवं शिष्य दोनोंने जलकी अञ्जली ली एवं परस्पर सम्मिलित होनेके लिये प्रार्थना पूर्वक दोनों जलाञ्जलियोंको छोड़ दिया। जल जैसे जलमें मिलता है, गुरु-शिष्यका सम्मिलन वैसा ही घनिष्ठ करनेका उपदेश

सूचित हुआ। (२) गुरुने शिष्यका हाथ पकड़कर जो भाव शिष्यके मनमें प्रकट किया उससे विदित होता है कि उसीने जैसे शिष्यके जनकत्व, स्वास्थ्य विधायकत्व और पोषणका भार ग्रहण कर लिया। (३) किन्तु गुरु अपनेमें इन सब अधिकारोंका स्वीकार कर स्वयं अभिमानी नहीं हुआ, शिष्यके यथार्थ गुरु अग्निदेव हैं सो स्पष्टरूपसे कह दिया एवं शिष्यको अपना प्रियकारी मित्र ही समझा। गुरुका हृदय शिष्यके प्रति जैसा होना उचित है [अर्थात् (क) सम्मिलनप्रवण अर्थात् मिलनसार (ख) पिताके अनुरूप एवं (ग) निरभिमानी मित्रभावापन्न] सो संस्कारके प्रथम भागमें बता दिया गया है। तदनन्तर शिष्यका कर्त्तव्य जो गुरुका ही आवर्त्तन अथवा अनुवर्त्तन करते रहना है सो तत्कर्तृक सूर्य्यके आवर्त्तनके अनुकरण द्वारा प्रकाशित हुआ। और भी प्रकाशित हुआ कि शिष्य जैसे सूर्य्यके स्थानापन्न (सूर्य्यका एक नाम वेदोदय भी है) है वैसे ही गुरु भी सूर्य्यके आवर्त्तनीय स्वयं विश्वमूर्ति (परमेश्वर) का रूप है। उसी विश्वरूप गुरुने शिष्यके शरीरमें विश्वके स्थापनमें प्रवृत्त होकर (क) नाभिदेशमें यमको (ख) नाभिके ऊर्द्ध्व भागमें वायुको (ग) वाम भागमें हृत्पिण्डस्थानमें सूर्य्यको (घ) मध्यभागमें वक्षःस्थलमें अग्निको एवं (ङ) दक्षिण भागमें प्रजापतिको स्थापित किया अर्थात् शिष्यके देहमें ही समस्त ब्रह्मदेह हुआ; ऐसा होनेसे ही संस्कार पूर्ण होगया। इस समय माणवक पूर्ण ब्रह्मचारी हुआ एवं उसने शास्त्रोक्त ब्रह्मचारी वेश धारण किया एवं ब्रह्मचारीके शास्त्रनिर्दिष्ट कर्मोंके साधनमें प्रवृत्त हुआ।

वेदमें कुछ उपनिषद् वाक्योंको महावाक्य कहा गया है, यथा— सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि; किन्तु इन सबकी अपेक्षा भी महत्तर एवं सूक्ष्मतर तथ्यव्यञ्जक एक वाक्य यह है कि,—"सर्वं सर्वात्मकम्"। यह महावाक्य ही सर्व श्रेष्ठ उपनयन संस्कारकी भित्ति है। यह द्विजातिके क्षुद्र शिष्यको विश्वरूप बना देता है, अपनेमें

उसी विश्वरूपका ध्यान और धारणा मिलाकर उसीसे सकल तपस्या विधिका आविष्कार करता है और सोऽहं ज्ञानके सम्यक् अनुभव द्वारा अभिमानको मिटाकर मुक्ति साधनका मार्ग दिखाता है।

उपनयन संस्कारमें यज्ञोपवीत धारण करनेको जो विधि है वह भी गभीर रहस्य पूर्ण है। यज्ञोपवीतमें नौ तन्तु तथा तीन दण्ड होते हैं। नौ तन्तुके द्वारा नव गुण तथा उनकी अधिष्ठात्री देवताओं-की अपने भीतर धारण करनेकी विधि है। ये नौ गुण तथा उनकी अधिष्ठात्री देवता निम्नलिखित हैं—१ म देवता ओंकार अर्थात् ब्रह्म, गुण ब्रह्मज्ञान; २ य देवता अग्नि, गुण तेज; ३ य देवता अनन्त, गुण धैर्य्य; ४ र्थ देवता चन्द्र, गुण सर्वप्रियता; ५ म देवता पितृगण, गुण स्नेहशीलता; ६ ष्ठ देवता प्रजापति, गुण प्रजापालन; ७ म देवता वसु, गुण स्वधर्मस्थिति; ८ म देवता यज्ञ, गुण न्यायपरता; ९म देवता शिव, गुण विषयमें अनासक्ति। नवतन्तुयुक्त यज्ञोपवीत धारण द्वारा द्विजगणको इन देवताओंका नित्यस्मरण तथा इन गुणोंसे विभूषित होना चाहिये। इसी लिये नवतन्तु धारणकी विधि है। तीन दण्डके द्वारा कायदण्ड, वाग्दण्ड और मनोदण्ड, इन तीनों दण्ड अर्थात् संयमकी विधि बताई गई है। कायसंयमके द्वारा ब्रह्मचर्य धारण, तपस्यादि, वाक्संयम द्वारा वृथा वाक्य या मिथ्यावाक्य परित्याग और मनःसंयम द्वारा विषयसे मनका हटाना ये ही सब यज्ञोपवीतधारी द्विजमात्रका कर्त्तव्य है। इन्हीं कर्त्तव्योंका नित्य उद्बोधक यज्ञसूत्र है। गृह्य संग्रहमें भी कहा है—

ब्रह्मणोत्पादितं सूत्रं विष्णुना त्रिगुणीकृतम्।
रुद्रेण तु कृतो ग्रन्थिः सावित्र्या चाऽभिमन्त्रितम्॥

ब्रह्माने यज्ञसूत्रको बनाया, विष्णुने त्रिगुणित किया, रुद्रने ग्रन्थि दी और सावित्री देवीने अभिमन्त्रित किया। ग्रन्थि देते समय इन देवताओंके इसलिये स्मरण किये जाते हैं। ये ही सब उपनयन-संस्कारके अन्तर्निहित गूढ़ रहस्य हैं।

(९) नवम संस्कारका नाम ब्रह्मव्रत है। इसमें उपनीत द्विज ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण पूर्वक ब्रह्म अर्थात् परमात्माके पथमें अग्रसर होनेके लिये प्रतिज्ञा करते हैं। ब्रह्मचर्यकी आवश्यकता तथा ब्रह्मचर्य-धारणकी विधि 'आश्रमधर्म' नामक प्रबन्धमें पहले ही बताई गई है, अतःपुनरुक्ति निष्प्रयोजन है।

(१०) दशम संस्कारका नाम वेदव्रत है। इसको वेदारम्भ संस्कार भी कहते हैं। यज्ञोपवीतके दिन अथवा उससे तीन दिन पश्चात् आचमन, प्राणायाम, गणेशपूजन आदि करनेके अनन्तर आचार्यकी आज्ञासे वेदारम्भ संस्कार किया जाता है। तीन वेद, दो वेद अथवा एक वेदकी यथाक्रम शिक्षा पानेके लिये यह संस्कार है। इसमें आचार्यके प्रति शिष्टाचारमूलक अनेक कर्तव्यके निर्देश किये गये हैं, यथा—वेदाध्ययनके आरम्भ और समाप्तिमें दोनों वार प्रतिदिन शिष्य गुरुका पादस्पर्श करे, हाथ जोड़कर पढ़ने-को बैठे, आदि और अन्तमें प्रणवका उच्चारण करे, अध्ययनके समय चित्तको अन्यत्र न जाने देवे, स्वर और वर्णसे विरुद्ध हाथ न हिलावे इत्यादि इत्यादि। मनुसंहितामें लिखा है—

यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्य्यधिगच्छति।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति॥

जिस प्रकार खनन अस्त्रसे खोदनेपर ही जल मिलता है ऐसा ही गुरु सेवा द्वारा विद्या प्राप्त होती है अतः इस संस्कारमें गुरु सेवा ही प्रधान कर्तव्य है।

(११) ग्यारहवें संस्कारका नाम समावर्तन है। गुरुगृहमें विद्या समाप्त करके गृहस्थाश्रम ग्रहण करनेके लिये घर लौटनेके पूर्व इस संस्कारका आचरण होता है। इसको विधि यह है। श्राद्ध, अग्निस्थापन और हवन करके अग्निसे कहा जाता है— "हे अग्नि! उपनयनके समय मैंने तुम्हारी अनुकूलतामें जिस व्रतको करनेके लिये कहा था वह अब समाप्त होगया है और मुझे

अध्ययनलक्षणरूप समृद्धि तथा सत्यस्वरूपता प्राप्त हुई है।" वायु देवता, प्रजापति आदिसे भी वैसा ही कहा जाता है। आचार्य्यके समीप सुगन्धयुक्त जलकी अञ्जलि भर कर कहा जाता है—"जलमें प्रविष्ट गोह्य, उपगोह्य आदि सब दोषोंको मैंने त्याग दिया। जल मेरे स्नानके योग्य हुआ। उसमें जो दीप्तिकर अग्नि है उसे मैंने ग्रहण किया और उसके द्वारा आत्माको अभिषिक्त किया। इससे यश, तेज, ब्रह्मवर्चस, बल, इन्द्रिय सामर्थ्य, धनसमृद्धि और सम्मान मिलेंगे। हे अश्विनीकुमार! तुमने जिस कर्मके द्वारा अपुण्या नामक स्त्रीकी हिंसा की है, सुराको खण्डित किया है, अक्षक्रीड़ाको त्याग दिया है और महती पृथ्वीको अभिसिञ्चित किया है उसी पवित्र कर्म तथा पथका भागी बनाकर मुझे अभिषिक्त करो।" तदनन्तर सूर्यको नाना प्रकार प्रार्थनाके साथ प्रणाम किया जाता है। इसके उपरान्त मन्त्रपाठपूर्वक मेखला मोचन, ब्राह्मणभोजन कराकर यज्ञोपवीत, माल्य और पादुका धारण करना होता है तदनन्तर आचार्यका यथोचित सत्कार करके ब्रह्मचारी अपने गृहको जाता है।

(१२) बारहवें संस्कारका नाम उद्वाह है। यह यौवन संस्कार है। इसके विषयमें आश्रमधर्म नामक प्रबन्धमें पहले ही बहुत कुछ कहा जा चुका है, अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है।

(१३) तेरहवें संस्कारका नाम अग्न्याधान है इसमें सस्त्रीक अग्नि-होत्र करनेकी विधि है। वैदिकाग्नि, स्मार्ताग्नि आदि अनेक प्रकारकी अग्निग्रहणकी रीति है, सो श्रौत तथा स्मार्त ग्रन्थोंमें द्रष्टव्य है।

(१४) चौदहवें संस्कारका नाम दीक्षा है। जब गुरुदेव कृपा करके शिष्यको देवता और मन्त्रका उपदेश देते हैं तब उस संस्कारका नाम दीक्षा होता है। इस प्रकारसे अग्न्याधानके अनन्तर गुरुदीक्षा द्वारा गृहस्थ क्रमशः आत्माके राज्यमें अग्रसर होने लगता है।

(१५) पन्द्रहवें संस्कारका नाम महादीक्षा है। दीक्षाके अनन्तर जब साधकको उपयुक्त समझकर गुरुदेव साधनके साथ गुरुलक्ष्ययुक्त योगक्रियाओंका उपदेश देना प्रारम्भ करते हैं और शिष्यको प्रतिज्ञाबद्ध कर दिया करते हैं तो वह दूसरा उन्नत अधिकार महादीक्षा कहलाता है। योगक्रियाओंका विस्तृत वर्णन ग्रन्थान्तरमें किया जायगा।

(१६) सोलहवें संस्कारका नाम सन्न्यास है। पहले ही कहा गया है कि षोड़श संस्कारोंमेंसे प्रथम आठ संस्कार प्रवृत्तिरोधक और दूसरे आठ संस्कार निवृत्तिपोषक हैं। जीव प्रथम आठ संस्कारोंकी सहायतासे प्रवृत्तिरोधकताको लाभ करके धीरे धीरे दूसरे आठ संस्कारोंके द्वारा निवृत्तिभावको बढ़ाता जाता है। सन्न्यासमें इस निवृत्तिकी पराकाष्ठा है और इसका सुफल निःश्रेयसलाभ है; क्योंकि श्रुतिमें लिखा है—"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्त्वमानशुः" सकाम कर्म, प्रजोत्पत्ति या धनके द्वारा नहीं—किन्तु त्याग और निवृत्तिके द्वारा ही अमृतत्त्व प्राप्ति होती है। संन्यास संस्कारकी चरितार्थता इसी निवृत्तिके द्वारा पूर्णता तथा शिवत्व लाभ है।

इसी प्रकारसे षोड़श संस्कारके द्वारा जीव क्रमशः उन्नति लाभ करता हुआ अन्तमें ब्रह्म पदवीपर प्रतिष्ठित हो सकता है। यही षोड़श संस्कारका संक्षिप्त रहस्य है।

मुक्ति।

(११)

धर्मविज्ञान, धर्मके विविध अङ्ग तथा कर्मविज्ञानका वर्णन करके अब धर्मसाधनके अन्तिम लक्ष्यरूप मुक्तिका कुछ रहस्य बताया जाता है। जीव जबतक त्रिगुणमयी मायाके राज्यमें विचरण करता है तबतक वह बद्धजीव कहलाता है और जब सुखदुःख-मोहरूपिणी त्रिगुणमयी मायाके पाशको काटकर नित्यानन्दमय ब्रह्मपदमें विराजमान हो जाता है तभी वह मुक्तात्मा कहलाता है। जीवमें मुक्तिकी इच्छा कैसे उत्पन्न होती है, इस प्रश्नका समाधान यह है कि जीवमें यह इच्छा स्वाभाविक है; क्योंकि जीव आनन्द-मय ब्रह्मका अंश है। ब्रह्म नित्यानन्दरूप है और जीव उसी ब्रह्मका अंश है, इस कारण जीवके भीतर भी उसी नित्यानन्द सत्ताका बीज विद्यमान है। इसी नित्यानन्दका बीज रहनेसे जीवमात्रकी समस्त चेष्टा सुखप्राप्तिके लिये होती है। जीव हृदयमें विद्यमान नित्यानन्दसत्ताही जीवको सुखके खोजमें इतस्ततः घुमाया करती है; परन्तु परिणामिनी प्रकृतिके समस्त सुखोंके क्षण-भङ्गुर होनेसे जीव उनमें स्थायी सुखलाभ तथा पूरी तृप्तिको प्राप्त नहीं कर सकता है। क्योंकि जिसके हृदयमें नित्यानन्दकी प्रेरणा है, वह अनित्य तथा दुःखमिश्रित सुखमें कैसे तृप्तिलाभ कर सकता है? यही कारण है कि असंख्य जन्म तक संसारमें सुखप्राप्तिके अर्थ भटकनेपर भी जीवको विषय सुखके द्वारा कदापि पूरी तृप्ति प्राप्त नहीं होती है। इस लिये विषयसुखके भोगते हुए भी जीव-के भीतर नित्यानन्दकी चाह सदा ही बनी रहती है और विषय भोगके अन्तमें उत्पन्न नाना दुःखोंको पाकर विषय सुखकी ओरसे जीवका चित्त जितना जितना हटता जाता है, हृदयनिहित नित्यानन्दकी चाह उतनी ही उतनी बलवती होती जाती है, अन्तमें

एक शुभ समय जीवको वह प्राप्त होता है कि जिस समय विषय-की ओरसे जीवकी दृष्टि एकवार ही हट जाती है और तभी नित्यानन्दमय मुक्तिपदके लिये जीव लालायित होकर सद्‌गुरुकी शरण लेता है। पूर्वप्रबन्धमें यह दिखा चुके हैं कि कर्मरूपी तरङ्ग प्रकृतिसे उत्पन्न होता है और पुनः प्रकृतिमें ही लय होता है। उस कर्मतरङ्गके तमकी ओरमें स्वतः जीव बन जाता है और जब वह तरङ्ग सत्त्वकी ओर पहुंचता है तब वह जीवके मुक्ति देनेका कारण बनता है। अतः जीवकी कर्मसम्बन्धसे भी स्वाभाविक गति मुक्तिकी ओर ही है। जीव जितना जितना इस रहस्यको समझता जाता है उतना ही वह मुक्तिकी ओर अग्रसर होता है। यही जीव-हृदयमें स्वाभाविकरूपसे मुक्तिकी इच्छा प्रकट होनेका गूढ़ कारण है, तथा—छान्दोग्यश्रुतिमें—

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्राऽऽयतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सौम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्राऽऽयतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनं हि सौम्य मन इति।

जिस प्रकार व्याधके हाथमें सूतके द्वारा बंधा हुआ पक्षी इधर उधर उड़ जानेके लिये चेष्टा करनेपर भी जब असमर्थ हो जाता है तो बन्धनके स्थानमें ही आकर बैठ जाता है, उसी प्रकार परमात्माके साथ नित्यानन्दसत्ताकी डोरीके द्वारा बँधा हुआ जीव प्रथमतः मोहिनी मायाके चक्रमें फँसकर मायाराज्यमें ही उसी नित्यानन्दकी प्राप्तिके लिये अनेक जन्मोंतक अन्वेषण करता है, परन्तु जब अन्तमें मायाके भीतर नित्यानन्दका अभाव देखकर अतृप्त हो जाता है तो मायाराज्यको छोड़कर नित्यानन्दमय ब्रह्मपदकी ओर अग्रसर होने लगता है। यही जीवमें मुमुक्षुभाव-उत्पन्न होनेका कारण है। इस प्रकारसे वैराग्ययुक्त मुमुक्षुभावके साथ तत्वज्ञानी गुरुकी शरण लेनेपर गुरुदेव शिष्यको ब्रह्मज्ञानका उपदेश करते हैं। जिन उपदेशवाक्योंके श्रवण, मनन तथा निदि-

ध्यासन द्वारा साधक क्रमशः प्रकृतिराज्यसे अतीत अपने नित्यानन्दमय ब्रह्मस्वरूपकी उपलब्धि करनेमें समर्थ हो जाता है इसीको मुक्ति कहते हैं। परमात्मा सत्-चित् आनन्दमय हैं। जीवके परमात्माके अंश होनेके कारण जीवमें भी सत्, चित् और आनन्दसत्ता विद्यमान है। जीवमें मायाका आवरण रहनेसे जीव अपने सत्-चित्-आनन्दभावको समझ नहीं सकता है। यही जीवका जीवत्व अर्थात् बन्धन है। गुरूपदेशानुसार निष्काम कर्म्मयोगके अनुष्ठान द्वारा सत्सत्ता, उपासनायोगके अनुष्ठान द्वारा आनन्दसत्ता तथा ज्ञानयोगके अनुष्ठान द्वारा चित्सत्ताकी उपलब्धि होनेपर जीव मायाके आवरणको परित्याग करके अपने सच्चिदानन्दमय ब्रह्मभावमें स्थित हो जाता है। उस समय जीवको सदानन्दमय शिवत्व प्राप्ति अर्थात् स्वरूपस्थितिं होती है, इसीका नाम मुक्ति है। यथा-योगदर्शनके चतुर्थपादमें—

"पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति।"

पुरुषार्थशून्य होकर त्रिगुणमयी प्रकृतिका जब लय होजाता है तभी मुक्ति दशाका उदय होता है। उस समय साधक अपने जीवभावका परित्याग करके अद्वैतभावमय स्वस्वरूपमें अवस्थान करता है। प्रकृति ब्रह्मसे प्रकट होकर स्वतः ही कर्म्मप्रवाह उत्पन्न करती है, कर्म्म चिज्जड़ग्रन्थि उत्पन्न करके अज्ञानसे जीवको बांधता है और अन्तमें सत्त्वगुणमय विद्याराज्यमें पहुंचाकर जीवको ज्ञानप्रदान करनेका कारण बनता है। उस समय कर्म्म प्रकृतिमें और प्रकृति पुनः ब्रह्ममें लय होजाती है, तब स्वस्वरूपका उदय होता है। यही शास्त्रानुसार मुक्तिका लक्षण है।

मुक्ति-दशामें ब्रह्मके साथ मुक्तपुरुषकी अद्वैतभावमयी स्थिति होती है। पहलेही कहा गया है कि जीवमें ब्रह्मकी सत् चित् आनन्दरूपी विविध सत्ताएं विद्यमान हैं। केवल जीवके ऊपर माया-

का आवरण आनेसे ही ब्रह्मसे जीवकी पृथक्ता प्रतीत होती है, इसलिये जब जीव और ब्रह्मके बीचमें पृथक्ता डालनेवाली मायाका लय हो जायगा तब अवश्य ही जीवब्रह्मकी अभिन्नता सिद्ध हो जायगी इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। उस समय जीव ब्रह्ममें लवलीन होकर अपनी पृथक् सत्ताको भूल जायगा और अद्वैत-भावमें रमकर चिदानन्दरूप हो जायगा। यही मुक्तिकी चिदानन्द-मयी परमा स्थिति है, यथा-मुण्डक श्रुतिमें—

"ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।"

ब्रह्मको जानकर जीव ब्रह्मरूप हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्म-रूपताप्राप्तिके दो क्रम शास्त्रमें वर्णित किये गये हैं, यथा – सहज मुक्ति और क्रममुक्ति। कर्म, उपासना, ज्ञानकी सहायतासे विविध शुद्धि सम्पादन करनेपर वैराग्यवान् राजयोगी अपने आत्माको धीरे धीरे प्रकृतिके अन्नमय, प्राणमयादि पञ्चकोषोंसे पृथक् कर लेते हैं। तदनन्तर प्रकृतिके पञ्चपर्वसे मुक्त वह जीवात्मा प्रथमतः त्रिपुटीके अवलम्बनसे ही व्यापक परमात्मामें लय हो जाता है। इस प्रकार लय होनेकी चार दशाएं हैं, यथा—वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता। ये सब सविकल्प समाधिकी दशाएं हैं। वितर्कदशामें प्रकृतिके पञ्चपर्वोंका विचार रखते हुए विभु परमात्मा-की ओर जीवात्माकी गति होती है। विचार दशामें प्रकृतिका विचार छोड़कर परमात्मामें जीवात्माकी स्थिति होती है। आनन्द दशामें जीवात्मा वितर्क और विचारको छोड़कर विभु पर-मात्मामें लय हो ब्रह्मानन्दको भोगता है और अस्मितादशामें वितर्क विचार आनन्द तीनोंसे अतीत हो त्रिपुटीकी अतिसूक्ष्म अवस्थाको प्राप्त करके जीवात्मा परमात्मामें लय हो जाता है। उस समय केवल परमात्मासे कथञ्चित् पृथक्ताका आभास तथा स्मृतिमात्र राजयोगीको रहता है। तदनन्तर सविकल्प भावका लय होकर निर्विकल्प समाधिका उदय होता है, यथा—दैवीमीमांसामें—

"निर्विकल्पः सविकल्पलयेत्"

सविकल्प समाधिभावके लय होनेपर तब निर्विकल्प समाधिका उदय होता है। उस समय त्रिपुटीका कुछ भी सम्पर्क नहीं रहता है, जीवात्मा परमात्माका कोई भी भेद नहीं रहता है, जीवभावका निर्गुण ब्रह्मभावमें सम्पूर्णरूपसे लय हो जाता है और भाग्यवान् राजयोगी अपनेमें तथा सर्वभूतोंमें व्यापक ब्रह्मसत्ताका अनुभव करके उस ब्रह्मभावमें अपनी सत्ताको विलीन करके अद्वितीय स्वरूपमें स्थित हो जाते हैं। यही दशा सहजमुक्तिदशा कहलाती है। इस दशामें क्या होता है इसके विषयमें मुण्डकश्रुतिमें लिखा है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

ब्रह्मके साक्षात्कारके अनन्तर मुक्तपुरुषके हृदयकी गांठ खुल जाती है, अविद्यामूलक समस्त सन्देह निवृत्त हो जाते हैं और सञ्चित तथा क्रियमाण समस्त कर्म क्षय हो जाते हैं। इसी तरह गीतामें भी—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥

अपने ही भीतर ब्रह्ममें आनन्दरूप आनन्दपूर्ण, आत्माराम, आत्मप्रकाशयुक्त योगी ब्रह्मीभूत होकर निर्वाण मुक्ति प्राप्त करते हैं। ज्ञानी भक्त परब्रह्मके यथार्थ स्वरूपका जानकर उनमें विलीन हो जाते हैं। समस्त संसार त्रिगुणमयी प्रकृतिका ही विलास है, ब्रह्म इससे पृथक् है ऐसा ज्ञान होनेसे जीव ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाते हैं। निर्विकल्प समाधिप्राप्त इस प्रकारके युक्त पुरुषके सञ्चित और क्रियमाण संस्कार नष्ट हो जाते हैं। वासनाके आमूल नाशसे क्रियमाण कर्मका नाश और शरीरके साथ आत्माका अभिमानसम्बन्ध नष्ट होनेके कारण सञ्चित कर्मका नाश हो जाता है; परन्तु जिन कर्मोंसे उनका यह अन्तिम शरीर बन चुका है उन प्रारब्ध कर्मोंके फलीभूत हो जानेके कारण मुक्त पुरुषको

भोग द्वारा ही प्रारब्ध संस्कारोंको समाप्त करना पड़ता है। इसी लिये शास्त्रमें कहा है—

"प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः"

भोगके द्वारा ही प्रारब्ध कर्म नष्ट हो सकते हैं। इसलिये स्वरूप-स्थित होनेके बाद भी जब तक प्रारब्धकर्मका क्षय न हो जाय तब तक मुक्तपुरुषको स्थूल शरीर धारण करना पड़ता है। मुक्त-पुरुषकी इस प्रारब्धभोगावस्थाको 'जीवन्मुक्त' अवस्था कहते हैं अर्थात् वे जीते हुए भी मुक्त रहकर प्रारब्धक्षयके अन्ततक शरीर धारण करते हैं और समस्त प्रारब्ध जब क्षय हो चुकता है तब उनका शरीर भी नष्ट हो जाता है। उस समय उनमेंसे स्थूल सूक्ष्म प्रकृतिका अंश महाप्रकृतिमें मिल जाता है और उनका निर्गुण शान्त आत्मा प्रकृतिसे अतीत ब्रह्ममें लय होकर अनन्तकालके लिये आनन्दरूप तथा अमृतरूप हो जाता है। ये ही सहजमुक्तिके अन्तर्गत 'जीवन्मुक्ति' तथा 'विदेह मुक्ति' नामक दो दशाएं हैं। इस विषयमें श्रीभगवान् शंकराचार्य्यने विवेकचूड़ामणिमें वर्णन किया है, यथा—

ज्ञानोदयात्पुराऽऽरब्धं कर्म ज्ञानान्न नश्यति ।
अदत्त्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिश्योत्सृष्टबाणवत् ॥
व्याघ्रबुद्ध्या विनिर्मुक्तो बाणः पश्चात्तु गोमतौ ।
न तिष्ठति छिनत्त्येव लक्ष्यं वेगेन निर्भरम् ॥
प्रारब्धं बलवत्तरं खलु विदां भोगेन तस्य क्षयः,
सम्यग्ज्ञानहुताशनेन विलयः प्राक्सञ्चितागामिनाम् ॥
ब्रह्मात्मैक्यमवेक्ष्य तन्मयतया ये सर्वदा संस्थिता,
तेषां तत्त्रितयं न हि क्वचिदपि ब्रह्मैव ते निर्गुणम् ॥

जिस प्रकार किसी वस्तुको लक्ष्य करके बाणनिक्षेप करनेपर वह निक्षिप्त बाण लक्ष्यभेद किये बिना निवृत्त नहीं होता उसीप्रकार तत्त्वज्ञानोदयके पहले उत्पन्न प्रारब्ध संस्कार ज्ञानसे भी नष्ट नहीं होता, केवल भोगसे ही नष्ट होता है। व्याघ्र समझ कर बाण

निक्षेप करनेके बाद यदि शिकारीको पता लग जाय कि वह व्याघ्र नहीं है किन्तु गौ है, तथापि फेंका हुआ बाण लक्ष्यभेद किये विना नहीं रहता है, यहां भी ऐसा ही समझना चाहिये। ज्ञानरूपी अग्निके द्वारा सञ्चित और आगामी अर्थात् क्रियमाण कर्म भस्म हो सकते हैं; परन्तु बलवान् प्रारब्धकर्म भोगके द्वारा ही समाप्त हो सकता है। केवल जो महात्मा निर्गुण ब्रह्मके साथ तन्मयता द्वारा एकीभावको प्राप्त होकर सदाके लिये ब्रह्ममें लवलीन हो गये हैं उनको कोई भी कर्म स्पर्श नहीं करता है। जबतक प्रारब्ध अवशेष रहे तबतक जीवन्मुक्त पुरुष स्वरूपस्थित रहने पर भी तटस्थमें अवतीर्ण होकर प्रारब्धकर्मको भोगा करते हैं और इस प्रकारसे प्रारब्धकर्म जितने समाप्त होते जाते हैं उतनी ही उनकी दृष्टि तटस्थकी ओरसे निवृत्त होती जाती है। अन्तमें जब समस्त प्रारब्धकर्म नष्ट हो जाते हैं तब तटस्थ राज्यमें उनके आनेका कोई कारण ही नहीं रहता है। उस समय वे योगी निर्गुण ब्रह्मस्वरूपके साथ पूर्णरूपसे मिलते हुए उन्हींमें विलीन होकर विदेहमुक्ति लाभ करते हैं। उनका प्राण ऊपरको नहीं जाता है, यहीं विलीन हो जाता है, यथा—बृहदारण्यक श्रुतिमें—

न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति। अत्रैव समवलीयन्ते॥

सहजमुक्तिमें क्रममुक्तिकी तरह प्राण ऊपरको नहीं जाता है। यहीं महाप्राणमें व्यष्टिप्राणका लय हो जाता है। विदेह मुक्तिके समय व्यष्टि प्रकृतिका महाप्रकृतिमें और आत्माका व्यापक परमात्मामें किस प्रकार विलय हो जाता है सो श्रुतिमें विस्तारितरूपसे वर्णित किया गया है, यथा—प्रश्नोपनिषद्में—

यथेमां नद्यः स्पन्दमानाःसमुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे, समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोड़श कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां तासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति॥ प्र. उ. ६-५

जिस प्रकार नदियाँ समुद्रकी ओर जाती हुई अन्तमें समुद्रमें लवलीन हो समुद्र बन जाती हैं, उनके पृथक् नामरूप नहीं रहते हैं, उसी प्रकार मुक्तपुरुषकी षोड़शकला ब्रह्मकी ओर जाकर अन्तमें ब्रह्ममें ही लवलीन हो जाती है। उनके पृथक् नामरूप नहीं रहते हैं, वे अकल, अमृत होकर ब्रह्मरूप हो जाते हैं।

कर्म्मविज्ञान नामक प्रबन्धमें संक्षेपसे कहा गया है कि सहज कर्म्मका अन्तिम फल जीवन्मुक्त दशा है, ऐसा कर्म्मका अन्तिम शुभ-फल ब्रह्मा विष्णु-महेशरूपी त्रिमूर्तिपदप्राप्ति है और जैव कर्म्मका अन्तिम शुभफल सप्तम उद्र्ध्वलोक प्राप्ति है। इसी तृतीय गतिके साथ क्रममुक्तिका सम्बन्ध समझना उचित है। अब क्रममुक्तिके विषयमें शास्त्रीय सिद्धान्त बताया जाता है। छान्दोग्य श्रुति ५–१० १–२ में लिखा है, यथा—

ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासांस्तान्। मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत् पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति।

जो तपस्विगण निष्काम भावसे अरण्यमें उपासना करते हैं उनको शरीर त्यागानन्तर देवयानगति प्राप्त होती है। वे अर्चिरभिमानी देवता, दिवाभिमानी देवता, शुक्लपक्षदेवता, उत्तरायणदेवता, संवत्सरदेवता, आदित्यदेवता और चन्द्रदेवताके लोकोंको अतिक्रम करके विद्युद्देवताके लोकको प्राप्त होते हैं। वहांसे एक अमानव पुरुष आकर उनको ब्रह्मलोकमें ले जाते हैं। छान्दोग्यश्रुति ४–१५–५ में लिखा है—

"एष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते।"

इसीको देवयानपथ या ब्रह्मलोकपथ कहते हैं। इस पथमें गमनकारी पुरुषको पुनः संसारमें नहीं आना पड़ता है। महर्षि वेदव्यासने—

"आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्"

इस ब्रह्मसूत्रके द्वारा प्रमाणित किया है कि अर्चि, दिवा आदि

भोगभूमि नहीं है, परन्तु अतिवाहिक दिव्य पुरुषगण हैं, जो देवयान गतिप्राप्त साधकको ब्रह्मलोक तक पहुंचाते हैं।

ब्रह्मलोकप्राप्त जीवगण उस लोककी आयुपरिमितकाल ब्रह्मलोकमें वास करते हैं। उनको पुनः इस संसारमें लौटना नहीं पड़ता है। इसी प्रकार स्मृतिमें भी लिखा है, यथा—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥

कल्पके अन्तमें जब प्रलय उपस्थित होता है, उस समय ब्रह्मलोकमें वासनानाश द्वारा ज्ञानप्राप्त कृतकृत्य वे साधकगण ब्रह्माके साथ परब्रह्ममें विलीन होकर निःश्रेयसपदको प्राप्त हो जाते हैं। ब्रह्माकी आयुसे विष्णुकी आयु और विष्णुकी आयुसे रुद्रकी आयु अधिक है। उसीके अनुसार इस श्रेणीके मुक्तात्मा उक्त तीन श्रेणीकी आयुको प्राप्त होते हैं। इस प्रकारकी आयुका रहस्य ग्रन्थान्तरमें वर्णन किया जायगा। यही देवयानमार्ग द्वारा क्रममुक्तिका आर्यशास्त्रवर्णित गूढ़ तत्त्व है।

सगुण पञ्चोपासनाके द्वारा जो सारूप्य, सायुज्य, सामीप्य और सालोक्य नामक चार प्रकारकी मुक्तियोंका वर्णन उपासनाशास्त्रोंमें पाया जाता है, विचार करनेपर सिद्धान्त होगा कि ये सब क्रममुक्तिकोटिके ही अन्तर्गत हैं। विष्णु, शक्ति, शिव, सूर्य और गणपति, सगुण ब्रह्मकी इन पञ्च मूर्तियोंका लोक षष्ठ लोक कहलाता है। इसलिये सगुण ब्रह्मकी उपासना द्वारा उपास्य देवतामें तन्मय होकर तत्त्वज्ञानप्राप्तिके पहले यदि किसी उपासकका शरीर त्याग हो जाय तो शरीर त्यागानन्तर षष्ठलोकके अन्तर्गत उस लोकमें उस उपासककी गति होगी जिस उपास्य देवतामें उसको तन्मयता प्राप्त हुई थी, यथा-विष्णूपासक विष्णुलोकमें जायंगे, शिवोपासक शिवलोकमें, शक्ति-उपासक शक्तिलोक मणिद्वीपमें इत्यादि। इन

सब लोकोंका वर्णन आर्यशास्त्रमें बहुत मिलता है, यथा-श्रीमद्भागवत ३ य स्कन्ध १५ अध्यायमें विष्णुलोकका वर्णन—

मानसा मे सुता युष्मत्पूर्व्वजाः सनकादयः।
चेरुर्विहायसा लोकांल्लोकेषु विगतस्पृहाः॥
त एकदा भगवतो वैकुण्ठस्यामलात्मनः।
ययुर्वैकुण्ठनिलयं सर्वलोकनमस्कृतम्॥
वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वे वैकुण्ठमूर्त्तयः।
येऽनिमित्तनिमित्तेन धर्मेणाराधयन् हरिम्॥
यत्र चाद्यः पुमानास्ते भगवच्छब्दगोचरः।
सत्त्वं विष्टभ्य विरजं स्वानां नो मृडयन् वृषः॥
यत्र नैःश्रेयसं नाम वनं कामदुघर्द्रुमैः।
सर्वर्तुश्रीभिर्विभ्राजत् कैवल्यमिव मूर्तिमत्॥ इत्यादि॥

ब्रह्माके मानसपुत्र सनकादि चार ब्रह्मर्षि आकाशमार्गमें अनेक लोकोंमें विचरण करते हुए किसी समय सर्वलोकपूज्य विष्णुभगवान्के स्थान विष्णुलोक अर्थात् वैकुण्ठमें पहुँचे। वहांपर संसार वासनाशून्य परमधार्मिक विष्णुलोकवासिगण थे। उनकी मूर्ति विष्णुकी तरह थी और वे सभी विष्णुके परम निष्काम उपासक थे। आदि पुरुष वेदप्रतिपाद्य सगुण ब्रह्म विष्णुदेव उसी लोकमें रहते हैं, जिसमें रजस्तमोगुणोंका लेशमात्र नहीं है और केवल शुद्ध सत्त्वगुण ही विद्यमान है। वहांपर निःश्रेयस नामक सुन्दर उद्यान है जिसमें इच्छानुसार फल देनेवाले अनेक वृक्ष हैं, जो सकल ऋतुओंमें फलफूल समृद्धिसम्पन्न तथा मूर्तिमान कैवल्यरूप हैं इत्यादि। इसी प्रकार देवी भागवत्में मणिद्वीप नामक शक्तिलोकका भी वर्णन मिलता है, यथा—देवी भागवतके ८ म स्कन्धमें—

भक्तौ कृतायां यस्यापि प्रारब्धवशतो नग।
न जायते मम ज्ञानं मणिद्वीपं स गच्छति॥
तत्र गत्वाऽखिलान् भोगाननिच्छन्नपि चार्च्छति।
तदन्ते मम चिद्रूपज्ञानं सम्यग् भवेन्नग।

तेन मुक्तः सदैव स्यात् ज्ञानान्मुक्तिर्न चान्यथा।
इहैह यस्य ज्ञानं स्याद्ध्रुवंप्रत्यगात्मनः॥
मम संवित्परतनोस्तस्य प्राणा व्रजन्ति न।
ब्रह्मैव संस्तदाप्नोति ब्रह्मैव ब्रह्म वेद यः॥

भक्ति करनेपर भी प्रारब्धसंस्कारके कारण जिस भक्तको तत्त्वज्ञान नहीं प्राप्त होता है वह मणिद्वीप नामक शक्तिलोकमें जाता है। वहांपर इच्छा न होनेपर भी उसको समस्त भोग प्राप्त होते हैं और अन्तमें तत्त्वज्ञान प्राप्त होकर उसकी मुक्ति होती है क्योंकि ज्ञानके विना आत्यन्तिक मुक्ति कदापि नहीं होती। इसके अतिरिक्त इसी लोकमें जिसको अन्तरात्माका ज्ञान प्राप्त हो जाता है वह यहीं मुक्तिपदको प्राप्त करता है। उसका प्राण सारूप्यादि मुक्ति प्राप्त करने वालोंकी तरह ऊपरके लोकोंमें नहीं जाता है। वह इसी लोकमें सहजगति द्वारा ब्रह्मरूप होकर ब्रह्मको प्राप्त करता है क्योंकि ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मरूप ही है। इसी प्रकार शिवपुराणादिकोंमें भी शिवलोकादिकोंका वर्णन है जहां पर शिवादि सगुणब्रह्मोपासकोंको सारूप्य, सायुज्य, सालोक्य आदि मुक्तियां प्राप्त हुआ करती हैं। सारूप्य, सायुज्य, सामीप्य और सालोक्य—इन चारोंमेंसे कोई भी मुक्ति आत्यन्तिकी नहीं है इसलिये इनमें परब्रह्म भावकी प्राप्ति नहीं होती है। इनमें केवल उपास्य देवताओंमें तन्मयता तथा उनके लोकमें निवास द्वारा अत्युत्तम सात्त्विक आनन्द साधकको प्राप्त होता है। सारूप्य मुक्तिमें उपास्यदेवताका रूप धारण करके साधक उनमें तन्मयता द्वारा आनन्दमें मग्न रहते हैं। सायुज्य मुक्तिमें उपास्य देवताके साथ योगयुक्त होकर साधक सात्त्विक आनन्द लाभ करते हैं। सामीप्य मुक्तिमें उपास्यके समीप रहकर उनके दर्शनादि द्वारा तथा सालोक्य मुक्तिमें उपास्यके लोकमें स्थित होकर स्थानमहिमा द्वारा साधकको अनुपम आनन्द प्राप्त होता है। ये सभी आनन्द द्वैतभावमें प्राप्त आनन्द हैं। अद्वैतभावमें व्यापक परमात्माके साथ

एकरूप होकर आनन्दरूपताप्राप्ति इन सभोंका स्वरूप नहीं है। इसलिये अद्वैतभावप्रयासी साधक इन मुक्तियोंकी इच्छा नहीं करते हैं, यथा—श्रीमद्भागवतके ३ य स्कन्धके २९ अध्यायमें—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते॥

एकान्तरति भक्तगण सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्यरूप चार प्रकारकी मुक्ति तथा भगवान्के ऐश्वर्यसमूहको उनके द्वारा दिये जाने पर भी नहीं ग्रहण करते हैं। वे पूर्ण निष्काम आत्यन्तिक भक्तियोगके आश्रयसे उनमें अन्यन्यासक्ति द्वारा लवलीन होकर त्रिगुणमयी मायाके राज्यको छोड़ ब्रह्मीभूत हो जाते हैं। सालोक्यादि मुक्तिमें द्वैतसत्ताकी विद्यमानता रहनेसे यह स्थिति प्रकृतिराज्यसे परे नहीं है इसलिये किसी असाधारण कारणके उपस्थित होनेपर इन दशाओंसे साधकका पतन भी हो सकता है, यथा—श्रीमद्भागवतमें जयविजय नामक सामीप्य मुक्तिप्राप्त विष्णुके दोनों द्वारपालोंका रावण कुम्भकर्ण हिरण्याक्ष हिरण्यकशिपु आदि रूपमें सनकादि ब्रह्मर्षियोंके अभिसम्पात द्वारा पतन लिखा है; परन्तु इस प्रकारको पतनसम्भावना किसी असाधारण कारणसे ही संघटित हो सकती है, साधारण कारण द्वारा कदापि नहीं और इस प्रकार असाधारण कारणके उपस्थित होनेपर भी सारूप्य तथा सायुज्य मुक्तिप्राप्त साधकका पतन विरल ही होता है। केवल सामीप्य तथा सालोक्य मुक्तिप्राप्त साधकके प्रति इस प्रकार असाधारण कारणका सम्पर्क हो सकता है। इसी असाधारण कारणके वर्णनरूपसे ही गीतामें श्रीभगवान्ने कहा है—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।

समस्त लोक यहां तक कि ब्रह्मलोकके भी जीव पुनः संसारमें आसकते हैं, परन्तु निर्गुण ब्रह्मको प्राप्त होनेपर पुनर्जन्म नहीं होता है, इस प्रकारसे ब्रह्मलोक तथा अन्य किसी उपास्य देवताके लोकसे पतन होना असाधारण घटना है। साधारण दशामें उपास्य-लोक प्राप्त साधक उपास्यके साथ कल्पान्तपर्यन्त उस लोकमें रहते हैं। तदनन्तर पूर्ववर्णित नियमानुसार प्रलयके समय जब ब्रह्माण्डका नाश होता है और उनके उपास्यदेव भी परब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं उस समय उपास्यके साथ वह सामीप्यादि मुक्ति प्राप्त उपासक भी परब्रह्ममें विलीन होकर निर्वाण मुक्ति प्राप्त हो जाते हैं। विष्णूपासक विष्णुके साथ, शिवोपासक शिवके साथ, सूर्योपासक सूर्यके साथ, इस प्रकारसे महाप्रलयकालमें निःश्रेयस पदको प्राप्त करके ब्रह्मीभूत हो जाते हैं। उस समय उनकी सत्ता पृथक् रूपमें न रह-कर परब्रह्मके साथ एकीभूत हो जाती है और वे आनन्दरूप अमृतरूप हो जाते हैं। षष्ठ लोकवासी किसी साधकमें यदि तत्त्व-ज्ञानका विकाश हो जाय तो महाप्रलयके पहिले भी उनकी आत्यन्तिकी मुक्ति हो सकती है। इसमें यह प्रकार होगा कि इस प्रकार तत्त्व-ज्ञानप्रयासी साधक कुछ कालतक उपास्यलोक अर्थात् षष्ठलोकमें रहकर पश्चात् सप्तम लोकको प्राप्त हो जायंगे और सप्तम लोकमें उनको तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो जायगी जिससे वे परब्रह्मके माया-तीत विभुस्वरूपको ज्ञान द्वारा जानकर उनमें विलीन हो निर्वाण मुक्ति प्राप्त हो जायंगे। यही उपास्यलोकप्राप्त साधकोंमें क्रममुक्तिके दो क्रम हैं, कर्मके द्वारा जो साधक उन्नतिके मार्गमें अग्रसर होते हैं उनमें शक्तिकी आकांक्षा अधिक रहनेके कारण उन्हें देवयोनि प्राप्त होकर इन्द्रादि पदवी मिलती है। तदनन्तर इन्द्रादिसे ब्रह्मत्व विष्णुत्व शिवत्व तक उन्हें मिल सकते हैं। इस प्रकार ब्रह्मत्वादिका चरम फल ब्रह्ममें विलीन होकर मुक्त होना ही है। ये ही सहज-कर्म, जैवकर्म तथा ऐश कर्मानुरूप मुक्तिके तीन भेद हैं।

संक्षेपसे मुक्ति रहस्यपर विचार किया गया। ब्रह्म से प्रकृति प्रकट होकर जब द्वैतसत्ता उत्पन्न हुई थी, सच्चिदानन्दमय अद्वितीय स्वरूपभावमें जब दृश्यरूपसे महामाया आविर्भूत हुई थी, सर्वथा द्वैत-रहित कारणब्रह्ममें जब कार्य्यब्रह्मरूपी दृश्य प्रपञ्च प्रकट हुआ था, तब वहां प्रकृतिके प्रभावसे जो कर्म्मधारा उत्पन्न होकर चिज्जड़मय जीवत्वकी सृष्टि हुई थी वह सृष्टि इस मुक्तिपदमें अपने मूलके सहित विलीन हो जाती है। कर्म्मकी तीन धाराओंमेंसे जैवकर्मसे उत्पन्न धर्मशक्ति जीवको क्रमशः ऊर्द्ध्वसे ऊर्द्ध्वलोकोंमें पहुंचाकर अन्तमें सप्तम ऊर्द्ध्वलोकमें पहुंचा देती है। वहांसे सूर्य्यमण्डल भेदन करते समय जीव स्वस्वरूप ब्रह्ममें समुद्रमें आकाशपतित वारिबिन्दुके समान लय होकर शाश्वत मुक्तिपदको प्राप्त कर लेता है; शास्त्रोंने इसीको शुक्लगतिकी मुक्ति कही है। कर्मकी दूसरी धारा ऐशकर्मसे उत्पन्न होकर ब्रह्मके अंशरूपी जीवको इन्द्रादि श्रेष्ठदेवपद प्रदान करती है और क्रमशः उत्तरोत्तर उन्नत देवपद प्रदान करती हुई सगुण ब्रह्ममें लय कर देती है; तब जीवत्वका नाश हो जाता है और उस समय वही सगुणरूपधारी ब्रह्म ब्रह्मा विष्णु महेश कहाकर अपनी पदमर्यादाका पालन करते हुए ब्रह्मीभूत हो जाते हैं; यही ऐशकर्म्मका लोकातीत अन्तिम परिणाम है। इसका वर्णन शास्त्रोंमें कहीं कहीं पाया जाता है और सहज कर्म्मकी धारा जो मनुष्यजीवनमें विलीन होगई थी वह किस प्रकारसे सप्त ज्ञान-भूमियोंकी सहायतासे तत्त्वज्ञानी महापुरुषोंके हृदयमें पुनः उत्पन्न होकर जीवन्मुक्त पदको प्रकट करती है उसका रहस्य ऊपर प्रकट किया गया है। यही मुक्तिसिद्धान्त सब शास्त्रोंका सार है, यही मुक्तिसिद्धान्त कर्मकाण्डका अन्तिम फल है, यही मुक्तिसिद्धान्त उपासनाकाण्डका अन्तिम उच्चाभिलाष है, यही मुक्तिसिद्धान्त ज्ञानकाण्डका लक्ष्य है और यही वेदान्त है।

——०——

सनातन धर्मकी पुस्तकें।



धर्मकल्पद्रुम।

[श्रीस्वामी दयानन्द विरचित]

यह हिन्दूधर्मका अद्वितीय और परमावश्यक ग्रंथ है। हिन्दु-जातिकी पुनरुन्नतिके लिये जिन जिन आवश्यकीय विषयोंकी जरूरत है, उनमेंसे सबसे बड़ी भारी जरूरत एक ऐसे धर्मग्रन्थकी थी कि जिसके अध्ययन अध्यापनके द्वारा सनातनधर्मका रहस्य और उसका विस्तृत स्वरूप तथा उसके अङ्ग उपाङ्गोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सके और साथ ही साथ वेद और सब शास्त्रोंका आशय तथा वेदों और सब शास्त्रोंमें कहे हुए विज्ञानोंका यथाक्रम स्वरूप जिज्ञासुको भलीभांति विदित हो सके। इसी गुरुतर अभावको दूर करनेके लिये भारतके प्रसिद्ध धर्मवक्ता और श्रीभारतधर्म-महामण्डलस्थ उपदेशक महाविद्यालयके दर्शनशास्त्रके अध्यापक श्रीमान् स्वामी दयानन्दजी महाराजने इस ग्रन्थका प्रणयन किया है। इसमें वर्तमान समयके आलोच्य सभी विषय विस्तृतरूपसे दिये गये हैं। इस ग्रन्थसे आजकलके अशास्त्रीय और विज्ञानरहित धर्मग्रन्थों और धर्मप्रचारके द्वारा जो हानि हो रही है, वह सब दूर होकर यथार्थरूपसे सनातन वैदिक धर्मका प्रचार होगा। इस ग्रंथरत्नमें साम्प्रदायिक पक्षपातका लेशमात्र भी नहीं है और निष्प-क्षरूपसे सब विषय प्रतिपादित किये गये हैं, जिससे सकल प्रकारके अधिकारी कल्याण प्राप्त कर सकें। इसमें और भी एक विशेषता यह है कि, हिन्दुशास्त्रके सभी विज्ञान शास्त्रीय प्रमाणों और युक्तियोंके सिवाय, आजकलकी पदार्थ विद्या [Science] के द्वारा भी प्रतिपादित किये गये हैं, जिससे आजकलके नवशिक्षित पुरुष भी इससे लाभ उठा सकें। इसके सात खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथम खण्डका मूल्य २), द्वितीयका १॥), तृतीयका २),

चतुर्थका २), पंचमका २), षष्ठका १॥) और सप्तमका २) है। इसके प्रथम दो खण्ड बढ़िया कागजपर भी छापे गये हैं। और दोनों ही एक बहुत सुन्दर जिल्दमें बांधे गये हैं। मूल्य ५) है। आठवां खंड यंत्रस्थ है।

प्रवीण दृष्टिमें नवीन भारत।

[श्रीस्वामी दयानन्द सम्पादित]

इस ग्रंथमें आर्यजातिको आदिका वासस्थान, उन्नतिका आदर्श निरूपण, शिक्षादर्श, आर्यजीवन, वर्णधर्म आदि विषय वैज्ञानिक युक्ति तथा शास्त्रीय प्रमाणोंके साथ वर्णित हैं। यह ग्रन्थ धर्म-शिक्षाके अर्थ बी० ए० क्लासका पाठ्य है। इसके दो खण्ड हैं। प्रत्येकका मूल्य २)

नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत।

[श्रीस्वामी दयानन्द सम्पादित]

भारतका प्राचीन गौरव और आर्यजातिका महत्त्व जाननेके लिये यह एक ही पुस्तक है। इसका द्वितीय संस्करण परिवर्द्धित और सुन्दर होकर छप चुका है। यह ग्रन्थ भी बी० ए० क्लासका पाठ्य है। मूल्य ३)

साधनचन्द्रिका।

[श्रीस्वामी दयानन्द विरचित]

इसमें मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग इन चारों योगोंका संक्षेपमें अति सुन्दर वर्णन किया गया है। यह ग्रंथ प्रथम वार्षिक एफ० ए० क्लासका पाठ्य है। मूल्य १॥)

शास्त्रचन्द्रिका।

अज्ञाननाशिनी और ज्ञानजननीको विद्या कहते हैं। विद्या दो भागोंमें विभक्त है, एक परा विद्या और दूसरी अपरा विद्या। गुरु-मुखसे प्राप्त होनेवाली ब्रह्मविद्या परा विद्या कहलाती है। परा विद्या ग्रंथोंसे नहीं प्रकाशित होती, परन्तु ग्रंथोंसे प्रकाशित होने-वाली विद्याको अपरा विद्या कहते हैं। अपरा विद्या भी पुनः दो

भागोंमें विभक्त है, यथा—लौकिक विद्या और पारलौकिक विद्या। शिल्प, कला, वाणिज्य, पदार्थविद्या, साइन्स, राजनीति, समाजनीति, युद्धविद्या, चिकित्साविद्या आदि सब लौकिक विद्याके अन्तर्गत हैं और वेद और वेदसम्मत दर्शन पुराणादि शास्त्र सब पारलौकिक विद्याके अन्तर्गत माने गये हैं। पारलौकिक विद्याके दिग्दर्शनार्थ यह ग्रन्थ इस विचारसे बनाया गया है कि, जिससे विद्यार्थियोंको धर्म-शिक्षा प्राप्त करनेमें सहायता प्राप्त हो सके। मूल्य १।॥) रुपया।

धर्मचन्द्रिका।

[श्रीस्वामी दयानन्द विरचित]

एन्ट्रेस क्लासके बालकोंके पाठनोपयोगी उत्तम धर्मपुस्तक है। इसमें सनातनधर्मका उदार सार्वभौम स्वरूपवर्णन, यज्ञ, दान, तप आदि धर्माङ्गोंका विस्तृत वर्णन, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, नारीधर्म, आर्यधर्म, राजधर्म तथा प्रजाधर्मके विषयमें बहुत कुछ लिखा गया है। कर्मविज्ञान, संध्या, पञ्चमहायज्ञ आदि नित्यकर्मोंका वर्णन, षोड़श संस्कारोंके पृथक् पृथक वर्णन और संस्कारशुद्धि तथा क्रियाशुद्धि द्वारा मोक्षका यथार्थ मार्ग निर्देश किया गया है। इस ग्रन्थके पाठसे छात्रगण धर्मतत्त्व अवश्य ही अच्छी तरहसे जान सकेंगे। मूल्य १)

आर्य्य गौरव।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

आर्य्यजातिका महत्त्व जाननेके लिये एक ही पुस्तक है। यह ग्रन्थ स्कूलकी ९ वीं तथा १० वीं कक्षाका पाठ्य है। मूल्य ॥)

आचारचन्द्रिका।

[श्रीस्वामी दयानन्द विरचित]

यह भी स्कूलपाठ्य सदाचारसम्बन्धीय धर्मपुस्तक है। इसमें प्रातःकालसे लेकर रात्रिमें निद्राके पहले तक क्या क्या सदाचार किस लिये प्रत्येक हिन्दुसन्तानको अवश्यही पालने चाहिये, इसका रहस्य उत्तम रीतिसे बताया गया है और आधुनिक समयके विचार

से प्रत्येक आचारपालनका वैज्ञानिक कारण भी दिखाया गया है। यह ग्रन्थ बालकोंके लिये अवश्य ही पाठ करने योग्य है। यह स्कूल-की ८ वीं कक्षाका पाठ्य है। मूल्य ॥)

नीतिचन्द्रिका।

[श्रीस्वामी दयानन्द विरचित]

मानवीय जीवनका उन्नत होना नीतिशिक्षापर ही अवलम्बित होता है। कोमलमति बालकोंके हृदयोंपर नीतितत्त्व खचित करनेके उद्देश्यसे यह पुस्तिका लिखी गई है। इसमें नीतिकी सब बातें ऐसी सरलतासे समझाई गई हैं कि, इस एकके ही पाठसे नीति-शास्त्रका ज्ञान हो सकता है। यह स्कूलकी ७ वीं कक्षाका पाठ्य है। मूल्य ॥)

चरित्रचन्द्रिका।

[सम्पादक पं० गोविन्दशास्त्री दुगवेकर।

इस ग्रन्थमें पौराणिक ऐतिहासिक और आधुनिक महापुरुषोंके सुन्दर मनोहर विचित्र चरित्र वर्णित हैं। यह ग्रन्थ स्कूलकी ६ ठी कक्षाका पाठ्य है। प्रथम भागका मूल्य १) और दूसरे भागका १।)

धर्मप्रश्नोत्तरी।

[श्रीस्वामी दयानन्द विरचित]

सनातनधर्मके प्रायः सब सिद्धान्त अतिसंक्षिप्तरूपसे इस पुस्ति-कामें लिखे गये हैं। प्रश्नोत्तरीकी प्रणाली ऐसी सुन्दर रक्खी गई है कि छोटे बच्चे भी धर्मतत्त्वोंको भलीभांति हृदयङ्गम कर सकेंगे। भाषा भी अतिसरल है। यह ग्रन्थ स्कूलकी ४ थी कक्षाका पाठ्य है। कागज और छपाई बढ़िया होनेपर भी मूल्य केवल ।) मात्र है।

परलोक-रहस्य।

[श्रीमान् स्वामी दयानन्द विरचित]

मनुष्य मर कर कहां जाता है, उसकी क्या गति होती है, इस विषयपर वैज्ञानिक युक्ति तथा शास्त्रीय प्रमाणोंके साथ विस्तृत रूपसे वर्णन है। मूल्य ।)

चतुर्दशलोक रहस्य ।

[श्रीमान् स्वामी दयानन्द विरचित]

स्वर्ग और नरक कहाँ और क्या वस्तु है, उनके साथ हमारे इस मृत्युलोकका क्या सम्बन्ध है इत्यादि विषय शास्त्र और युक्तिके साथ वर्णित किये गये हैं। आजकल स्वर्ग नरक आदि लोकोंके विषयमें बहुत संशय फैल रहा है। श्रीमान् स्वामीजी महाराजने अपनी स्वाभाविक सरल युक्तियोंके द्वारा चतुर्दश लोकोंका रहस्य वर्णन करते हुए उस सन्देहका अच्छा समाधान किया है। मूल्य ।)

सती-चरित्र-चन्द्रिका ।

[श्रीमान् पं० गोविन्दशास्त्री दुगवेकर सम्पादित]

इस पुस्तकमें सीता, सावित्री, गार्गी, मैत्रेयी आदि ४४ सती स्त्रियोंके जीवनचरित्र लिखे गये हैं। मूल्य २)

नित्य-कर्म-चन्द्रिका ।

इस ग्रन्थमें प्रातःकालसे लेकर रात्रिपर्य्यन्त हिन्दुमात्रके अनुष्ठान करने योग्य नित्य कर्म वैदिक तांत्रिक मन्त्रोंके साथ भलीभांति वर्णित किये गये हैं। मूल्य ।)

धर्मसोपान ।

यह धर्मशिक्षा विषयक बड़ी उत्तम पुस्तक है। बालकोंको इससे धर्मका साधारण ज्ञान भलीभांति हो जाता है। यह पुस्तक क्या बालक बालिका, क्या वृद्ध स्त्री पुरुष, सबके लिये बहुत ही उपकारी है। धर्मशिक्षा पानेकी इच्छा करने वाले सज्जन अवश्य इस पुस्तकको मंगावें। यह स्कूलकी ५ वीं कक्षाका पाठ्य है। मूल्य ।) आना।

धर्म-कर्म-दीपिका ।

इस पुस्तकमें कर्मका स्वरूप, कर्मके भेद, संस्कारके लक्षण और भेद, वैदिक संस्कारोंका रहस्य, त्रिविध कर्मका वैज्ञानिक स्वरूप, कर्मसम्बन्धसे मुक्ति, कर्मके साथ धर्मका मिश्र सम्बन्ध, धर्मरूप कल्पद्रुमका विस्तृत वर्णन, वर्णाश्रमधर्मकी महिमा और विज्ञान, उपा-

सना रहस्य, उपासनाकी मूलभित्तिरूप पीठ रहस्य, धर्म कर्म और यज्ञ शब्दोंका वैज्ञानिकरहस्य और सदाचारका विज्ञान और महत्त्व प्रतिपादन किया गया है, यह ग्रन्थ मूल और सुस्पष्ट हिन्दी-अनुवाद सहित शास्त्रीय प्रमाण देकर छापा गया है, यह ग्रन्थरत्न प्रत्येक सनातनधर्मावलम्बीके लिये उपादेय है। मूल्य ॥)

सदाचारसोपान।

यह पुस्तक कोमलमति बालक बालिकाओंकी धर्मशिक्षाके लिये प्रथम पुस्तक है। यह स्कूलकी तीसरी कक्षाका पाठ्य है। मूल्य ‐) एक आना।

कन्याशिक्षासोपान।

कोमलमति कन्याओंको धर्मशिक्षा देनेके लिये यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। मूल्य ‐)

ब्रह्मचर्यसोपान।

ब्रह्मचर्य्यव्रतकी शिक्षाके लिये यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। सब ब्रह्मचारी आश्रम, पाठशाला और स्कूलोंमें इस ग्रन्थकी पढ़ाई होनी चाहिये। मूल्य ।) आना।

राजशिक्षासोपान।

राजा महाराजा और उनके कुमारोंको धार्मिक शिक्षा देनेके लिये यह ग्रन्थ बनाया गया है, परन्तु सर्वसाधारणकी धर्म्मशिक्षाके लिये भी यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है, इसमें सनातनधर्मके अङ्ग और उसके तत्त्व अच्छी तरह बताये गये हैं। मूल्य ≡) तीन आना।

साधनसोपान।

यह पुस्तक उपासना और साधनशैलीकी शिक्षा प्राप्तकरनेमें बहुत ही उपयोगी है। इसका बंगला अनुवाद भी छप चुका है। बालक बालिकाओंको पहलेसे इस पुस्तकको पढ़ाना चाहिये। यह पुस्तक ऐसी उपकारी है कि, बालक और वृद्ध समानरूपसे इससे साधन-विषयक शिक्षा लाभ कर सकते हैं। मूल्य ।) चार आना।

शास्त्रसोपान।

सनातनधर्मके शास्त्रोंका संक्षेप सारांश इस ग्रन्थमें वर्णित है।

सब शास्त्रोंका कुछ विवरण समझनेके लिये प्रत्येक सनातनधर्म्मावलम्बीके लिये यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है मूल्य ।) चार आना।

धर्मप्रचारसोपान।

यह ग्रन्थ धर्मोपदेश देनेवाले उपदेशक और पौराणिक पण्डितोंके लिये बहुत ही हितकारी है। मूल्य ।) आना।

उपदेशपारिजात।

यह संस्कृत गद्यात्मक अपूर्व ग्रन्थ है। सनातनधर्म क्या है, धर्मोपदेश किसको कहते हैं. सनातनधर्मके सब शास्त्रोंमें क्या क्या विषय हैं, धर्मवक्ता होनेके लिये किन किन योग्यताओंके होनेकी आवश्यकता है इत्यादि अनेक विषय इस ग्रंथमें हैं। संस्कृत विद्यानुमात्रको पढ़ना उचित है और धर्मवक्ता, धर्मोपदेशक, पौराणिक पण्डित आदिके लिये तो यह ग्रंथ सब समय साथ रखने योग्य है। मूल्य ॥) आना।

कल्किपुराण।

कल्किपुराणका नाम किसने नहीं सुना है? इस कलियुगमें कल्कि महाराज अवतार धारणकर दुष्टोंका संहार करेंगे, उसका पूर्ण वृत्तान्त है। वर्तमान समयके लिये यह बहुत हितकारी ग्रन्थ है। विशुद्ध हिन्दी अनुवाद और विस्तृत भूमिका सहित यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। धर्मजिज्ञासुमात्रको इस ग्रन्थको पढ़ना उचित है। मूल्य १॥)

योगदर्शन।

हिन्दी भाष्यसहित। इस प्रकारका हिन्दी भाष्य और कहीं प्रकाशित नहीं हुआ है। सब दर्शनोंमें योगदर्शन सर्ववादिसम्मत दर्शन है और इसमें, साधनके द्वारा अन्तर्जगत्के सब विषयोंका प्रत्यक्ष अनुभव करा देनेकी प्रणाली रहनेके कारण इसका पाठन और भाष्य एवं टीका निर्माण वही सुचारुरूपसे कर सकता है, जो योगके क्रियासिद्धांशका पारगामी हो, प्रत्येक सूत्रका भाष्य प्रत्येक सूत्रके आदिमें भूमिका देकर ऐसा क्रमबद्ध बना दिया गया है कि, जिससे पाठकोंको मनोनिवेशपूर्वक पढ़नेपर असम्बद्ध नहीं मालूम

होगा और ऐसा प्रतीत होगा कि महर्षि सूत्रकारने जीवोंके क्रमाभ्युदय और निःश्रेयसके लिये मानों एक महान् राजपथ निर्माण कर दिया है। इसका द्वितीय संस्करण छपकर तैयार है, इसमें इस भाष्यको और भी अधिक सुस्पष्ट, परिवर्द्धित और सरल किया गया है। मूल्य २) दो रुपया।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलरहस्य।

इस ग्रंथमें सात अध्याय हैं। यथा–आर्य्यजातिकी दशाका परिवर्त्तन, चिन्ताका कारण, व्याधिनिर्णय, औषधिप्रयोग, सुपथ्यसेवन, बीजरक्षा और महायज्ञसाधन। यह ग्रंथरत्न हिंदूजातिकी उन्नतिके विषयका असाधारण ग्रन्थ है। प्रत्येक सनातनधर्मावलम्बीको इस ग्रंथको पढ़ना चाहिये। द्वितीयावृत्ति छप चुकी है, इसमें बहुतसा विषय बढ़ाया गया है। इस ग्रंथका आदर सारे भारतवर्षमें समानरूपसे हुआ है। धर्मके गूढ़तत्त्व भी इसमें बहुत अच्छी तरहसे बताये गये हैं। इसका बंगला अनुवाद भी छप चुका है। मूल्य १।)

निगमागमचन्द्रिका।

प्रथम, द्वितीय, पञ्चम और षष्ठ भाग धर्मानुरागी सज्जनोंको मिल सकते हैं। इन भागोंमें सनातनधर्मके अनेक गूढ़ रहस्यसम्बन्धी ऐसे ऐसे प्रबंध प्रकाशित हुए हैं कि, आजतक वैसे धर्मसम्बन्धी प्रबंध और कहीं भी प्रकाशित नहीं हुए हैं। जो धर्मके अनेक रहस्य जानकर तृप्त होना चाहें, वे इन पुस्तकोंको मंगावें। प्रत्येकका मूल्य १)

मन्त्रयोगसंहिता।

भाषानुवादसहित। योग विषयक ऐसा अपूर्व ग्रन्थ आजतक प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें मंत्रयोगके १६ अङ्ग और क्रमशः उनके लक्षण, साधनप्रणाली आदि सब अच्छी तरहसे वर्णन किये गये हैं। इसमें मंत्रोंका स्वरूप और उपास्यनिर्णय बहुत अच्छा किया गया है और अनर्थकारी साम्प्रदायिक विरोधके दूर करनेके लिये यह एकमात्र ग्रन्थ है, इसमें नास्तिकोंके मूर्ति पूजा, मन्त्रसिद्धि आदि विषयोंमें जो प्रश्न होते हैं, उनका अच्छा समाधान है। मूल्य १) एक रु०।

हठयोगसंहिता ।

भाषानुवादसहित । योगविषयक ऐसा अपूर्व ग्रन्थ आजतक प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें हठयोगके ७ अंग और क्रमशः उनके लक्षण साधनप्रणाली आदि सब अच्छी तरहसे वर्णन किये गये हैं। गुरु और शिष्य दोनों ही इससे पूरा लाभ उठा सकते हैं। मूल्य ॥।)

तत्त्वबोध ।

भाषानुवाद और वैज्ञानिक टिप्पणी सहित। यह मूल वेदान्त ग्रन्थ श्रीशंकराचार्य्य कृत है। इसका बंगानुवाद भी प्रकाशित हो चुका है। मूल्य =)

स्तोत्र कुसुमाञ्जलि ।

इसमें पंचदेवता, अवतार और ब्रह्मकी स्तुतियोंके साथ साथ आजकलकी आवश्यकतानुसार धर्मस्तुति, गंगादि पवित्र तीर्थोंकी स्तुति, वेदान्तप्रतिपादक स्तुतियां और काशीके प्रधान देवता श्रीविश्वनाथादिकी स्तुतियां हैं। मूल्य ।) आना।

श्रीमद्भगवद्गीता प्रथमखण्ड ।

श्रीगीताजीका अपूर्व हिन्दी—भाष्य यह प्रकाशित हो रहा है जिसका प्रथम खण्ड, जिसमें प्रथम अध्याय और द्वितीय अध्यायका कुछ हिस्सा है, प्रकाशित हुआ है। आजकल श्रीगीताजीपर अनेक संस्कृत और हिन्दी—भाष्य प्रकाशित हुए हैं, परन्तु इस प्रकारका भाष्य आजतक किसी भाषामें प्रकाशित नहीं हुआ। गीताका अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूतरूपी त्रिविध स्वरूप, प्रत्येक श्लोकका त्रिविध अर्थ और सब प्रकारके अधिकारियोंके समझने योग्य गीता—विज्ञानका विस्तारित विवरण इस भाष्यमें मौजूद है। मूल्य १) एक रु०।

सप्त गीताएं ।

पञ्चोपासनाके अनुसार पांच प्रकारके उपासकोंके लिये पांच गीताएं-श्रीविष्णुगीता, श्रीसूर्य्यगीता, श्रीशक्तिगीता, श्रीधीशगीता और

श्रीशम्भुगीता एवं संन्यासियोंके लिये संन्यासगीता और साधकोंके लिये गुरुगीता भाषानुवाद सहित छप चुकी हैं। इन सातों गीताओंमें अनेक दार्शनिक तत्त्व, अनेक उपासनाकाण्डके रहस्य और प्रत्येक उपास्य देवकी उपासनासे सम्बन्ध रखनेवाले विषय सुचारुरूपसे प्रतिपादित किये गये हैं। ये सातों गीताएं उपनिषद्रूप हैं। प्रत्येक उपासक अपने उपास्यदेवकी गीतासे तो लाभ उठावेगा ही, किन्तु अन्य चार गीताओंके पाठ करनेसे भी वह अनेक उपासनातत्त्वोंको तथा अनेक वैज्ञानिक रहस्योंको जान सकेगा और उसके अन्तःकरणमें प्रचलित साम्प्रदायिक ग्रन्थोंसे जैसा विरोध उदय होता है, वैसा नहीं होगा, वह परम शान्तिका अधिकारी हो सकेगा। संन्यासगीतामें सब सम्प्रदायोंके साधु और संन्यासियोंके लिये सब जानने योग्य विषय सन्निविष्ट हैं। संन्यासिगण इसके पाठ करनेसे विशेष ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। गृहस्थोंके लिये भी यह ग्रन्थ धर्मज्ञानका भण्डार है। श्रीमहामण्डलसे प्रकाशित गुरुगीताके सदृश ग्रंथ आजतक किसी भाषामें प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें गुरु-शिष्यलक्षण, उपासनाका रहस्य और भेद, मन्त्र हठ लय और राजयोगोंके लक्षण और अङ्ग एवं गुरुमाहात्म्य, शिष्यकर्तव्य, परम तत्त्वका स्वरूप और गुरुशब्दार्थ आदि सब विषय स्पष्टरूपसे हैं। मूल, स्पष्ट सरल और सुमधुर भाषानुवाद और वैज्ञानिक टिप्पणी सहित यह ग्रंथ छपा है। गुरु और शिष्य दोनोंके लिये यह उपकारी ग्रन्थ है। विष्णुगीताका मूल्य १), सूर्य्यगीताका मूल्य ॥), शक्तिगीताका मूल्य १), धीशगीताका मूल्य ॥।), शंभुगीताका मूल्य १) संन्यासगीताका मूल्य १) और गुरुगीताका मूल्य ।) है। इनमेंसे पञ्चोपासनाकी पांच गीताओंमें एक एक तीनरंगा विष्णुदेव, सूर्यदेव, भगवती और गणपति देव तथा शिवका चित्र भी दिया गया है। शम्भुगीतामें वर्णाश्रमबन्ध नामक चित्र भी देखने योग्य है।

कर्म्ममीमांसा दर्शन।

महर्षि भरद्वाजकृत यह दर्शनशास्त्र अनुसन्धान द्वारा प्राप्त हुआ है, जिसका यह प्रथम धर्मपाद प्रकाशित हुआ है। सूत्र, सूत्रका हिन्दीमें अर्थ और संस्कृत भाष्यका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार इसको छापा गया है। कर्मके साथ धर्मका सम्बन्ध, धर्मके अङ्गो-

पाङ्ग, पुरुषधर्म, नारीधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, आपद्धर्म, प्रायश्चित्त प्रकरण आदि अनेक विषयोंका विज्ञान धर्मपादमें वर्णित हुआ है। संस्कारशुद्धिसे क्रियाशुद्धि कैसे होती है तथा उसके द्वारा मोक्षप्राप्ति किस प्रकार हो सकती है इत्यादि विषयोंको विज्ञान संस्कारपाद, क्रियापाद और मोक्षपादमें वर्णित हुआ है। ज्ञानकी सप्त भूमिकाओंके अनुसार पञ्चम भूमिकाका यह दर्शन है। महर्षि जैमिनीकृत जो बृहत् कर्ममीमांसा दर्शन उपलब्ध होता है वह केवल वैदिक कर्मकाण्डके विज्ञानका प्रतिपादक है। वैदिक यज्ञोंका प्रचार आजकल बहुत कम होनेके कारण जैमिनीदर्शनका उपयोग बिलकुल नहीं होता है यही कहना युक्तियुक्त होगा। महर्षि भरद्वाजकृत उपर्युक्त दर्शन ग्रंथ कर्मके सब अङ्गोंके विज्ञानका प्रतिपादक और धर्म विज्ञानके रहस्यका वर्णन करनेवाला है इस ग्रंथरत्नका चार खण्डोंमें प्रकाशित होना सम्भव है। इसका द्वितीय पाद भी प्रकाशित हो गया है। क्रमशः मूल्य १॥) २)

श्रीरामगीता।

श्रीमहर्षि वशिष्ठकृत तत्त्वसारायणमें कथित यह श्रीरामगीता है। परमधार्मिक विद्वान स्वर्गवासी भारतधर्म-सुधाकर श्रीमहारावलजी साहब सर विजयसिंहजी बहादुर के० सी० आई० ई० डूंगरपुर राज्याधिपतिके पुरुषार्थ द्वारा इसका सुललित हिन्दी भाषामें अनुवाद हुआ है और विस्तृत वैज्ञानिक टिप्पणियोंके द्वारा इसके दुरूह विषयोंका स्पष्टीकरण किया गया है इन टिप्पणियोंके महत्त्वको सब दर्शनोंका ज्ञाता और सब योगोंका अभ्यासी समझ कर आनन्दित हो सकता है क्योंकि इसमें सब तरहके विषय आये हैं। इसके आदिमें श्रीरामचन्द्रजीके मर्यादा-पुरुषोत्तम अवतारकी लीलाओंका विशद रहस्य प्रकाशित किया गया है। इस पुस्तकमें श्रीरामचन्द्र सीता और हनुमान आदिके कई त्रैवर्णिक चित्र भी दिये गये हैं। कागज छपाई तथा जिल्द आदि उत्कृष्ट हैं। इसमें अयोध्या मण्डपादि वर्णन, प्रमाणसार विवरण, ज्ञान-योग निरूपण, जीवन्मुक्ति-निरूपण, विदेह मुक्ति निरूपण, वासना क्षयादिनिरूपण, सप्तभूमिका निरूपण, समाधिनिरूपण, वर्णाश्रम व्यवस्थापन, कर्मविभाग योग निरूपण, गुणत्रय विभाग योग निरूपण, विश्वरूप निरूपण,

तारक प्रणव विभाग योग, महावाक्यार्थविवरण, नव चक्र विवेक योगनिरूपण, अणिमादि सिद्धि दूषण, विद्या सन्तति गुरुतत्त्व निरूपण और सर्वाध्याय संगति निरूपण इत्यादि विषय हैं। एक धर्म-फण्डकी सहायताके लिये यह ग्रन्थ बिकता है। प्रस्तुत पुस्तकका मूल्य केवल २॥)

कहावत रत्नाकर।

न्यायावली और सुभाषितावली सहित। परम धार्मिक तथा विद्वान् स्वर्गीय श्रीमान् भारतधर्म-सुधाकर हिजहाइनेस महारावल साहब सर विजयसिंह बहादुर के० सी० आई० ई० डूंगरपुर नरेशके सम्पादकत्वमें इस पुस्तकका छपना प्रारम्भ हुआ था जिसको श्री-महामण्डलके शास्त्र प्रकाशक विभागकी पण्डित-मण्डलीने सुचारु-रूपसे समाप्त किया है। हिन्दी भाषाका यह एक अद्वितीय ग्रंथ है, इसमें हिन्दीभाषाकी प्रधानता रखकर पांच भाषाओंमें कहावतें दी गई हैं, हिन्दी और उसीकी संस्कृत कहावत, अंग्रेजी कहावत, फार्सी कहावत और उर्दू कहावत, अरबी कहावत। ये कहावतें प्रत्येक भाषाके प्रधान प्रधान विद्वानों द्वारा संग्रहीत और संशोधित हुई हैं, इसी प्रकार संस्कृत न्यायावली और उसका अंग्रेजी अनुवाद और विस्तृत अंग्रेजी विवरण तथा हिन्दी अनुवाद और हिन्दी विवरण दिया गया है। अन्तमें संस्कृत सुभाषितावली हिन्दी अनुवाद सहित दी गई है। हिन्दी कहावत, संस्कृत न्यायावली और संस्कृत सुभाषितावलीको सर्व साधारणके सुभीतेके लिये अकारादि क्रमसे दिया गया है। इसके प्रारम्भमें अंग्रेजी और हिन्दी भाषाका महत्त्व प्रतिपादन करनेवाली एक भूमिका दी गई है। पुस्तक सर्वाङ्ग सुन्दर है, सुन्दर जिल्दबंधी हुई है। एक धर्म्मफण्डकी सहायताके लिये यह ग्रन्थ बिकता है रायल एडीशन १०) साधारण संस्करण ७)

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीकी रामायण।

श्रीगोस्वामीजीके हस्तलिखित पुस्तकके साथ मिलाकर सम्पूर्ण विशुद्धरूपसे छपाया गया है। हम दावेके साथ कह सकते हैं कि, इसके मुकाबिलेकी पुस्तक बाजारमें नहीं मिलेगी। इसमें कठिन कठिन शब्दोंका अर्थ इस तरहसे दिया गया है कि बिना किसीके

सहारासे औरतें, बालक, वृद्ध आदि सभी कोई अच्छी तरह कठिन कठिन भावोंको समझ ले सकते हैं और भी इसकी विशेषता यह है कि,—इस तरहकी टिप्पणियां इसमें दी गई हैं कि, जिनको पढ़नेसे सनातनधर्मकी सब बातें समझमें आजावेंगी। धर्मसम्बन्धीय सब तरहकी शङ्काओंका समाधान भली भांति हो जायगा। इसकी छपाई, कागज वगैरह बहुत ही उत्तम और सुदृश्य है और केवल प्रचारके लिये ही मूल्य भी १॥) रक्खा गया है।

गीतार्थ चन्द्रिका।

[दो खण्ड]

[श्रीस्वामी दयानन्द विरचित]

श्रीस्वामीजीकी विद्वता किसीसे छिपी नहीं है। उन्होंने बहुत ही परिश्रमके साथ गीतापर यह अपूर्व टीका लिखी है। केवल हिन्दी भाषाके जाननेवाले भी इसके द्वारा गीताके गूढ़ रहस्यको जान सके इसी लक्ष्यसे यह टीका लिखी गई है। इसमें श्लोकके प्रत्येक शब्दका हिन्दी अनुवाद, समस्त श्लोकका सरल अर्थ और अन्तमें एक अति मधुर चन्द्रिका द्वारा श्लोकका गूढ़ तात्पर्य्य बतलाया गया है। इसमें किसीका आश्रय न लेकर ज्ञान, कर्म और उपासना तीनोंका सामञ्जस्य किया गया है। भाषा अति सरल तथा मधुर है। इस ग्रन्थके पाठ करनेसे गीताके विषयमें कुछ भी जाननेको बाकी नहीं रह जाता। हिन्दी भाषामें ऐसी अपूर्व गीता अबतक निकली ही नहीं है। मूल्य प्रत्येक खण्डका १।)

सनातनधर्म-दीपिका।

[श्रीस्वामी दयानन्द विरचित]

इसमें १ धर्म, २ नित्यकर्म, ३ उपासना, ४ अवतार, ५ श्राद्धतर्पण, ६ यज्ञोपवीत संस्कार, ७ वेद और पुराण, ८ वर्णधर्म, ९ नारीधर्म, १० शिक्षादर्श और ११ उपसंहार शीर्षक निबंध लिखकर श्री स्वामीजीने बड़ी ही सरल भाषामें सनातनधर्मके मौलिक सिद्धान्त समझा दिये हैं। यह पुस्तक अंगरेजी स्कूलोंकी दशम श्रेणीके विद्यार्थियोंके धर्मशिक्षा देनेके उपयोगी बनाई गई है। मूल्य केवल ॥।) बारह आने।

आदर्श-जीवन-संग्रह ।

महापुरुषोंके जीवन चरित्रसे भावी सन्तानके चरित्र संघटनपर बहुत ही प्रभाव पड़ता है। अतः बालकोंको आदर्श महापुरुषोंका जीवन चरित्र अवश्य पढ़ाना चाहिये। वस्तुतः पुस्तकमें श्रीभगवान् शंकराचार्य, ईसामसीह, गो० स्वा० तुलसीदास, महाराज युधिष्ठिर, महात्मा गांधी, लोकमान्य तिलक, महारानी अहिल्या बाई, आदि २२ महानुभावों तथा महादेवियोंके जीवन चरित्रका संग्रह किया गया है। इस प्रकार यह अनेक आदर्शोंकी पुष्पमाला है। बालकोंके लिये अत्युपयोगी है। ऐसी पुस्तकका मूल्य १॥) मात्र है।

वीर बाला अथवा अपूर्व नारी रत्न ।

यह एक अत्युपयोगी तथा शिक्षाप्रद समाजिक उपन्यास है। राज-मद, धन मद, यौवन मदसे युक्त मनुष्यके पतन तथा राज धन-यौवनपूर्ण विवेकयुक्त पुरुषके उत्थानका अति सरल एवं ललित भाषामें दिग्दर्शन तो कराया ही गया है, इसके साथ ही विपत्ति-ग्रस्त भारतीय नारियोंके साहस, धैर्य, पराक्रम, कर्त्तव्य और प्रेमका अत्युत्तम चित्र खींचा गया है। इसके अतिरिक्त लेखकने जगत्-विख्यात शेक्सपियरके "Two Gentelmen of Verora" "Twelfth Night" पात्रोंसे भी अधिक इसकी नायिकाको कौशलपूर्ण दिखला कर अपनी कौशलताका परिचय दिया है। उपन्यासके आरम्भ करनेपर बिना समाप्त किये उसे छोड़नेको जी नहीं चाहता। १७० पृष्ठकी पुस्तकका मूल्य केवल ॥।) मात्र है।

कल्पलतिका बाल-चिकित्सा ।

आजकल बच्चे कमज़ोर तो होते ही हैं, अनेकों रोगोंसे सदैव ग्रसित रहते हैं। अपढ़ माताओंके होनेसे उनकी औषधि भी ठीक ठीक नहीं होती। परिव्राजक मैथिल स्वामीकी रचित प्रस्तुत पुस्तक ही बहुत ही कम कीमत जड़ी बूटीके नुसखे भी बतलाये गये हैं। बिना गुरुके थोड़ी भी हिन्दी जाननेवाले इसके द्वारा बच्चोंकी चिकित्सा कर सकते हैं। प्रत्येक माता पिताको यह पुस्तक अपने पास रखनी चाहिये। मूल्य ।) मात्र है।

त्रिवेदीय सन्ध्या ।

शास्त्रविशारद-महोपदेशक

पं० राधिकाप्रसाद वेदान्तशास्त्री प्रणीत ।

इसमें तीनों वेदकी सन्ध्या दी गई है । हर एक मंत्रका हिन्दीमें अन्वय और विशुद्ध सरल हिन्दी भाषामें अनुवाद दिया गया है। सन्ध्या क्यों की जाती है ? सन्ध्याका स्वरूप क्या है ? उपासनाकी रीतिसे सन्ध्याके द्वारा अपने अपने जीवनको कैसे उन्नत कर सकते हैं, सन्ध्या किस समय की जाती है और कैसे की जाती है, सन्ध्या न करनेसे क्या क्या हानि होती है, सन्ध्याका वैज्ञानिक तात्पर्य क्या है, प्राणायामका स्वरूप क्या है और कैसे किया जाता है । गायत्री-का रहस्य क्या है, प्रणवका विस्तृत स्वरूप और विज्ञान क्या है। गायत्री जप करनेका विधान क्या है, इस प्रकारसे सन्ध्या सम्बन्धीय सब बातें युक्ति और शास्त्रीय प्रमाणोंसे सिद्ध की गई है। इसके साथ साथ गायत्रीशापोद्धार, गायत्रीकवच और गायत्री हृदय भी सानुवाद दिया गया है । इसकी विशेषता यह है कि, इस पुस्तक-के देखनेसे बिना किसीसे पूछे आप ही आप, सन्ध्याका कार्य ठीक तरहसे कर सकेंगे और सन्ध्याके विषयमें जो कुछ शंकाएं हो सकती हैं सबका भलीभांति समाधान हो जायगा । मूल्य केवल ।=) आने ।

संगीतसुधाकर ।

इसमें अच्छे अच्छे भजनोंका संग्रह है ।

ईशोपनिषद् ।

अन्वय, मन्त्रार्थ, शङ्करभाष्य, भाष्यानुवाद और उपनिषत् सुबो-धिनी टीकाके साथ उत्तम छपाई और उत्तम कागजमें सज धजके प्रकाशित हो गई है । मूल्य ॥)